राई-देवसि-प्रतिक्रमरा

(अर्थ-विधि एवं स्तवनादि सहित)

—: संग्रहीता :—

श्री १०८ श्री लालश्री जी महाराज

एवं

श्री रत्न शिष्या श्री राजश्री जी महाराज



—: प्रकाशक :—

लाभचन्द्र जौहरी

सूतटोला, बनारस ।



राई – देवसि

प्र

ति

प्र ति क्र म ण

म

ण

(अर्थ-विधि एवं स्तवनादि सहित)

प्रकाशक

लाभचन्द्र जौहरी

सूतटोला, बनारस।

प्रथमवार } वीर संवत् २४७८ / विक्रम संवत् २००८ { मूल्य १)

प्रकाशक
—पुस्तक प्राप्ति स्थान —
लाभचन्द्र जौहरी
७४।६ सूतटोला,
बनारस ।



— मुद्रक —
प्रबोध प्रेस,
राजमन्दिर, बनारस ।

"उपोद्घात"

पाश्चात्य देश के जटिल जड़वाद के विषम वातावरण से और भौतिक सुख की मोहनी में मोहित जनता के अन्तर्पट से धर्म की दिन प्रति दिन क्षती होती जा रही है। जीवात्मा को सद्संस्कार और सद्भावनाओं को जाग्रत करनेवाली सामयिक, पूजा प्रतिक्रमण व धार्मिक क्रियायें ही हैं जो मानव जीवन को उच्चस्तर तक पहुँचाती है। किन्तु इनकी नीरसता व उपेक्षा होने से धर्म की हानि होती है। जैन समाज के हृदय में धार्मिक भावनायें जाग्रत हो इस हेतु से यह प्रतिक्रमण सूत्र छपाने के लिये। अनेक कठिनाइयों के होते भी हमारा यह प्रयास सफल हुआ है।

मरूधर देश में भी विहार के अनेक संकट, प्रतिकूल वातावरण व उपसर्गों को सहन करके श्रीवितराग धर्म का प्रचार करनेवाले प्रातः स्मरणीय पुल्यपाद १००८ श्रीमान् सुखसागरजी महाराज साहेब के अन्तेवाशी आचार्य महाराज श्रीमान् आनन्द सागरजी साहेब के समुदाय में ज्वलन्त ज्योति समान महान् प्रवाह शाली प्रख्य वक्ती विदुशी गुरुवर्या श्रीमति साध्वी जी पुण्य श्रीजी महाराज और

प्रर्वनिनय साध्वी श्रीजी महाराज की आज्ञावर्ती साध्वी जी लाल श्रीजी महाराज तथा साध्वी राम श्रीजी आदि के सद्उपदेश से और बनारस निवासी श्रीयुक्त लाभचन्द्र जी जौहरी के सुभ प्रयास से और प्रूफ संशोधन के परिश्रम से और धर्मप्रेमी उदार दाताओं की आर्थिक सहायता से तथा इस प्रतिक्रमण सूत्र की प्रतिओं का ग्राहक बनाने की महान् सहायता साध्वी जी लाल श्रीजी महाराज एव साध्वी श्रीविचक्षण श्री जी महाराज की ओर से होने से इस पुस्तक निर्विघ्नता से समाप्त होनेमें अनन्त कृपालु परमात्मा का और उपरोक्त सहायक दाताओं का अत्यन्त आभारी हूँ।

ओम् शान्ति, शान्ति, शान्ति।

सा० संतचरणोपासक

पंडित जयन्तिलाल जाहवज।

श्रीसिद्धक्षेत्रे—पालीताणा।

दो शब्द

प्रिय पाठकगण,

यों तो आपने अनेकों राई–देवसि–प्रतिक्रमण, पंचप्रति–क्रमण आदि पुस्तकें देखी होगी तथा उसका सदुपयोग कर सन्तुष्ट भी हुए होंगे परन्तु जैसी कि मेरी इस पुस्तक प्रकाशन के पूर्व हार्दिक अभिलाषा थी कि एक ऐसी पुस्तक जिसके अन्तर्गत उन सभी आवश्यक विधियों का, उन सूत्रों का भी जिनके द्वारा पंच प्रतिक्रमण भी राई–देवसि–प्रतिक्रमण पुस्तक के द्वारा किया जा सके एवं उन अन्य सूत्रों का भी समावेशन करूँ जिसके द्वारा अन्य गच्छ अर्थात् खरतरगच्छीय एवं तपेगच्छीय सम्प्रदाय वाले दोनों एक ही पुस्तक द्वारा पंच–प्रति-क्रमण, रात्रि का प्रतिक्रमण एवं दिन सम्बन्धी प्रतिक्रमण करने में पूर्णतया समर्थ हो सके प्रकाशन करूँ एवं प्रचलित तथा नवीन स्तवनादि का संग्रह करूँ जिससे धर्म प्रेमी सज्जन इस पुस्तक द्वारा समुचित उपयोग कर लाभ उठा सकें। इसी कारण मैंने अपने प्रयास द्वारा सभी अभिलाषाओं की पूर्ति करने में भर सक योग दिया परन्तु खेद इस बात का रहा कि पुस्तक बड़ी हो जाने के कारण इसमें स्तवनादि का समुचित संग्रह करने में असमर्थ रहा परन्तु आशा है कि आपके गुण-ग्राहकता द्वारा मैं अपनी पुनरावृत्ति में वह भी अभिलाषा पूर्ण कर सकने में समर्थ हूँगा!

समर्पण

प्रातः स्मरणीय,

परमपूज्य वयोवृद्ध गुणशालिनी साध्वी श्री १०८ श्रीमती लालश्री जी महाराज की सादर सेवा मे समर्पित ।

लाभचन्द्र जौहरी

संक्षिप्त-जीवनी

पूज्य गुरुवर विदुषि सुसाध्वी १०८ श्रीलाल श्रीजी महाराज !

हमारे पाठक गण मुझे बड़ा खेद है कि हमारे पूज्य गुरुवर श्री ने मुझे स्पष्ट आज्ञा दी है कि मैं उनके जीवन चरित्र के विषय में कुछ भी प्रकाशित न करूँ। इससे आज्ञा की अवहेलना होती है किन्तु मैं पाठकों के हित के लिए उनके विषय में कुछ लिखने की धृष्टता कर रहा हूँ इसके लिए मैं महाराज श्री से क्षमा प्रार्थना करता हूँ आशा है वे मुझे अवश्य क्षमा करेंगे।

पूज्य श्रीलालश्री जी महाराज का जन्म संवत् १९४२ आसोज कृष्ण १४ को जोधपुर मे हुआ। आपके पिता का नाम सेठ श्रीछगन राज जी भणसाली तथा माता श्री का नाम आसोबाई था। आपका गृहस्थावस्था का नाम लाड़बाई था। आपका स्वभाव बहुत ही नम्र था। आपका विवाह सेठ श्री जसूतराज जी भण्डारी के सुपुत्र श्री फतेराज जी भण्डारी के साथ हुआ था। अभी, अभी विवाह हुये दो ही वर्ष भी पूर्ण न हुये थे कि आपके पति का स्वर्गवास हो गया। तत्पश्चात् आपकी माताजी ने अपनी बाल-विधवा पुत्री को धर्म कार्य में संलग्न करा दिया। यही वास्तव में कुशल माताओं का उत्तम

प्रेम, वाधल्य के पश्चात् चरित्र निर्माण का कार्य है। आप पर आपकी माता श्री का वृक्ष रूप बड़ा अनुग्रह रहा जिसके शुभ फल रूप में हमारे सम्मुख धर्मध्वज रूप अपनी बहुमुखी प्रतिभा द्वारा हम अल्प ज्ञानियों के सम्मुख धर्मरुपी मधुर मधु का पान कराने के लिए प्रस्तुत हैं।

आपकी धर्मोन्नति की ओर विशेष रुचि थी। आपने बहुत अल्पकाल में ही अधिक से अधिक ज्ञानार्जन कर लिया। आप में इस ससार की असारता का अकुर आरोपण हुआ जिसको पूज्य श्री विद्यापार गामिनि, पर जनहितैपिणी, अखण्ड सौभाग्यवती सुसाध्वी श्रीमती पुण्य श्री जी महाराज एव श्रीमती सुवर्ण श्री जी महाराज की धर्मरूपी मेघ गर्जना के साथ वृष्टि से अकुर को प्रस्फुटित होने का प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। आपको उनकी अमरवाणी द्वारा वैराग्य का सचार हुआ। वैराग्य ऐसा वैराग्य जो चिरस्थायी बना है। जो हमारे सम्मुख एक आदर्श है।

आपकी हार्दिक अभिलाषा तथा अन्तिम निर्णय था कि दीक्षाव्रत अगीकार करना किन्तु आपके सम्मुख उस परिस्थिति में बड़ी विकट स्थिति थी और वह, थी दीक्षाव्रत लेने की आज्ञा प्राप्त करना। आपके सुसराल वाले बहुत ही सकीर्ण विचारवाले थे उससे आज्ञा पाना एक बड़ी समस्या थी। जब आपने अपना निर्णय अपने सुसराल वालों को निश्चिन्त रूप से प्रकट कर दिया तो वे उनके साथ कटु बर्ताव करने लगे। आपने अत्यन्त परिषह सहन किये। आपने सभी कष्टों को

धैर्य पूर्वक सहन किया। आपने छ महिनों तक गृहस्थाश्रम रहते हुये साधु अवस्था के नियमों का पालन किया। अन्त में जब आपकी माता श्री को उनके दृढ़ विचार तथा सुसराल वालों के विचारों का पता चला तो उन्होंने आपको सं० १९६५ आसाढ़ कृष्ण १३ को रतलाम में सर्वसम्मति द्वारा दीक्षा दिला दिया। आपका दीक्षा महोत्सव बड़े धूमधाम के साथ सम्पन्न हुआ।

आपकी धर्म के प्रति सच्ची अटूट श्रद्धा भक्ति थी तथा अब भी, शरीर के शिथिल हो जाने पर भी वैसी ही बनी है। आपको आपके समुदाय के पूज्य श्रीसुख सागर जी महाराज एवं उनके पाट पर के पूज्य आचार्य श्री हरिसागर सूरिश्वरजी महाराज से विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। तथा वर्तमान काल में पूज्य गुरुवर आच्चार्य आनन्द सागर सूरिश्वर जी महाराज साहब प्रतिष्ठित हैं जिनके द्वारा भी हम अथाह अज्ञानी सांसारिक प्राणियों को धर्म का लाभ हो रहा है।

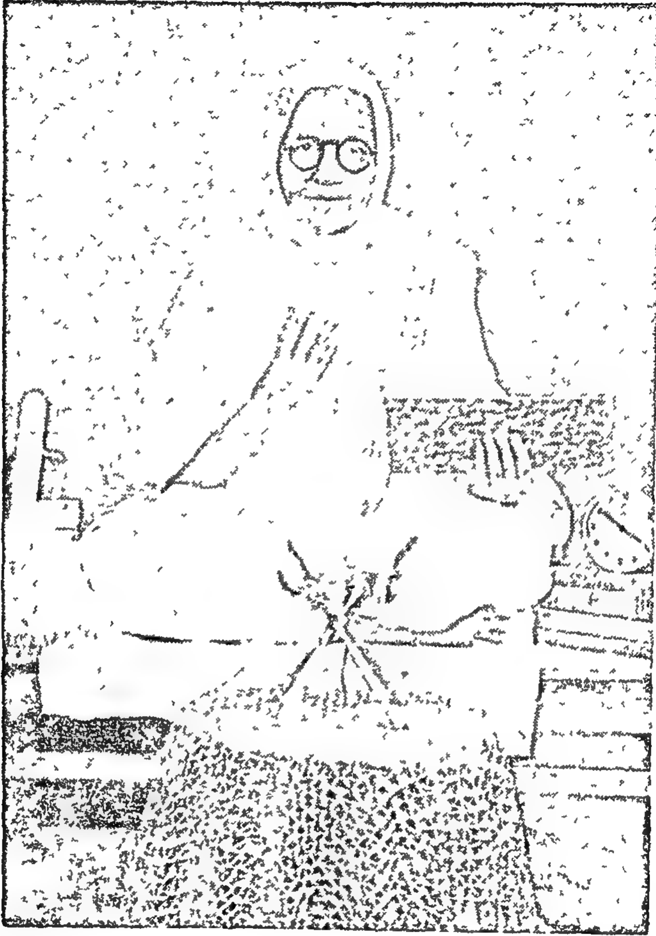
आपने ग्राम ग्राम नगर नगर विहार करते हुये बहुतेरे प्राणियों को प्रतिबोध दिया। आपने बीकानेर के समीप उद्मासर ग्राम के एक कुलवंत धनाढ्य घराने की श्राविका को अपनी बहुमुखी प्रतिभा द्वारा प्रतिबोध किया जिसको यह भी ज्ञान न था कि सफेद वस्तु पर धब्बा क्या होता है। जिनके नाम से सभी परिचित होंगे वे हैं हमारे पूज्य गुरु श्री राज श्री जी महाराज जिनका गृहस्थाश्रम का नाम रतनबाई (लक्ष्मीबाई था)।

आपका इस समय शरीर शीथिल हो गया है। आपकी अवस्था भी बहुत है। आप अब भी धर्म चुस्त हैं, सभी को अपना नहीं धर्म-भक्त समझती हैं। आपका हम पर बड़ा अनुग्रह है। आपके गुणों की चर्चा हम न जिह्वा द्वारा न लेखनी द्वारा ही कर सकते हैं। अनन्त में अन्त की सम्भावना करना हमारे सीमित क्षेत्र के परे हैं। आप शान्त, सरल, सुहृद, सौम्य, शक्ति शील हैं। अबकी बार आपका राज श्री जी बसत श्री जी महाराज आदि ८ ठाणों का पालीताना में चतुर्मास सम्पन्न हुआ है।

हम पूज्य श्री के बहुत आभारी हैं कि हमें हमारी इस धृष्टता पर क्षमा कर देंगे। हमने कुछ प्राप्त जानकारी द्वारा ही इसे लिखा इसमें कुछ त्रुटियाँ हो तो इसके लिए हमें क्षमा करें।

'सेवक"

लाभचन्द्र जैन



श्री लाल श्रीजी महाराज साहेब

जीवन परिचय

विदुषि साध्वी १०८ श्री राजश्रीजी महाराज

संसार मायायुक्त है। माया सुख की ओर प्रवृत्त करती है। और बाह्य सुख ही प्राणी को उच्च स्तर से निम्न स्तर की ओर अग्रसर करता है जिससे उसका पतन, और ह्रास हो जाता है। ऐसे मायायुक्त संसार में जब प्राणी जन्म लेता है तो उसके विचार इसी वातावरण में पोषित होते हैं परन्तु जो प्राणी ऐसे प्रबल वातावरण के से चंगुल में नहीं पड़ता वस्तुतः वही असाधारण प्राणी है। ऐसे ही एक प्राणी के विषय में मैं पाठकों का परिचय कराना चाहता हूँ जिन्होंने निस्संदेह वास्तविकता, संसार की असारता को न केवल समझा है किन्तु जिन्होंने उस दुर्गम पथ का अनुगमन भी किया जो साधारण प्राणी द्वारा अंगीकार करना संभव नहीं! और वो हैं हमारे पूज्य साध्वी १०८ श्री राजश्री जी महाराज!

श्रीराज श्रीजी महाराज का जन्म सवत् (सं० १९१२ पोष कृष्ण १० शुक्रवार) में बीकानेर शहर के निकट ३ कोस की दूरी पर उदासर नगर में हुआ। आप एक कुलवंत, धनाड्य, घराने की हैं। आपके पिता श्री का नाम चाँदमलजी बोथरा तथा आपकी माता श्रीका नाम हस्तु बाई है। आपका गृहस्थावस्था का नाम रतनबाई

(अपर नाम लक्ष्मी बाई) था। आपका विवाह ११ वर्ष की उम्र मे बीकानेर निवासी श्री जेठ मलजी के सुपुत्र श्रीमूलचन्द जी के साथ सम्पन्न हुआ। और तभी, अभी, दो ही वर्ष व्यतीत हुये थे कि, ग्राम ग्राम विहार करनेवाली साध्वी श्रीलालजी श्रीजी महाराज का सम्पर्क हुआ। परोपकार शिरोमणि गुणशालिनी साध्वी श्रीमती श्रीलाल श्रीजी महाराज साहब ने आपको भिन्न भिन्न प्रकार से उपदेशादि दिया और संसार की असारता का उन ऐसी बाला को सच्चा बोध कराया जिसे यह भी बोध नहीं था कि सफेद कागज पर काला अक्षर कैसा होता है? जिसके फलस्वरूप आपने १५ वर्ष की उम्र में स० १६८८ माघ शुक्ल ५ गुरुवार को श्रीलालजी महाराज साहब से दीक्षा अङ्गीकार की तभी से अपने जीवन को ऐसी कठोर साधना में लगा दिया जिसका कांतिमयी चिन्ह लिए आज भी आप हम आपके बीच प्रत्यक्ष हैं। इस अवस्था में त्याग का सन्यास लेना ही नहीं वरन् पालन और फिर ससार की ओर मुँह कर भी न देखना, कोई साधारण कार्य नहीं। और ऐसे उम्र में आपने श्रीलालश्रीमहाराज के चरण की सरण ली। और अब तक उनकी अटल सेवा में सलग्न हैं।

यहीं है हमारे प्रिय पाठको हमारे चरित्र नायक शिरोमणी श्रीराजश्रीजी महाराज की आत्मकथा वास्तविक निवृत्ति की परचायिका। और यही है आदर्श साध्वियता और दीक्षा की।

"सेवक"

नरेशचन्द्र जैन

राई-देवसि-प्रतिक्रमण ग्रन्थ की संग्राहिका

जन्म	दीक्षा
१९७२ पौष कृष्ण १०	१९८८ माघ शुक्ल ५
शुक्रवार	गुरुवार

प्रात: स्मरणीय वयोवृद्ध विनय गुण शालिनी



साध्वी जी श्रीमती लालश्रीजी महाराज की शिष्या

विदुषी साध्वी रत्न श्रीमती राजश्री जी महाराज

राई-देवसि-प्रतिक्रमण-सूत्र

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ

॥ नमो वीतरागाय ॥

राई-देवसि-प्रतिक्रमण ।

(अर्थ-सहित)

१—नमस्कार सूत्र

* णमो अरिहंताणं । णमो सिद्धाणं । णमो आयरियाणं । णमो उवज्झायाणं । णमो लोए सव्व-साहूणं ।

अन्वयार्थ—'अरिहंताणं' अरिहंतों को 'णमो' नमस्कार (हो)। 'सिद्धाणं' सिद्धों को 'णमो' नमस्कार (हो)। 'आय-रियाणं' आचार्यों को 'णमो' नमस्कार (हो)। 'उवज्झायाणं' उपाध्यायों को 'णमो' नमस्कार (हो)। 'लोए' लोक में—ढाई द्विप में (वर्तमान) 'सव्वसाहूणं' सब साधुओं को 'णमो' नमस्कार (हो)।

---

* नमोऽर्हद्भ्यः । नमः सिद्धेभ्यः । नमः आचार्येभ्यः । नमः उपाध्याये-भ्यः । नमो लोके सर्वसाधुभ्यः ।

† एसो पंच-णमुक्कारो, सव्व-पाव-प्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'एसो' यह 'पंच णमुक्कारो' पाँचों को किया हुआ नमस्कार 'सव्व पाव प्पणासणो' सब पापों का नाश करने वाला 'च' और 'सव्वेसिं' सब 'मंगलाणं' मङ्गलों में 'पढम पहलो—मुख्य 'मंगल' मङ्गल 'हवइ' है ॥ १ ॥

भावार्थ— श्री अरिहंत भगवान्, श्री सिद्ध भगवान्, श्रीआचार्य महाराज, श्रीउपाध्यायजी और ढाई द्वीप में वर्तमान सामान्य सब साधु मुनिराज—इन पाँच परमेष्ठियों को मेरा नमस्कार हो। उक्त पाँच परमेष्ठिओं को जो नमस्कार किया जाता है, वह सम्पूर्ण पापों को नाश करने वाला और सब प्रकार के लौकिक लोकोत्तर-मङ्गलों में प्रधान मङ्गल है।

२—स्थापनाचार्यजी की तेरह पडिलेहणा ॥

शुद्ध स्वरूप धारूँ (१), ज्ञान (२) दर्शन (३) चारित्र (४) सहित सद्दहणा-शुद्धि (५) प्ररूपणा-शुद्धि (६) दर्शन-शुद्धि (७) सहित पांच आचार पालूँ (८) पलावूँ (९) अनुमोदूँ (१०)

---

† एष पञ्चनमस्कारः सर्वपापप्रणाशनः।
मंगलानां च सर्वेषां प्रथमं भवति मंगलम् ॥ १ ॥

मनो-गुप्ति (११) वचन-गुप्ति (१२) काय-गुप्ति आदरूँ (१३) ।

३—खमासमण सूत्र ।

*** इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए, मत्थएण वंदामि ।**

अन्वयार्थ— 'खमासमणो' हे क्षमाश्रमण—क्षमाशील तपस्विन् ! 'निसीहिआए' सब पाप-कार्यों का निषेध करके (मैं) 'जावणिज्जाए' शक्ति के अनुसार 'वंदिउं' वन्दन करना 'इच्छामि' चाहता हूँ (और) 'मत्थएण' मस्तक से 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ।

भावार्थ— हे क्षमाशील गुरुवर ! मैं अन्य सब कामों को छोड़ कर शक्ति के अनुसार आपको वन्दन करना चाहता हूँ उसके अनुसार सिर झुकाकर आपको वन्दन करता हूँ ।

४—सुगुरु ने सुख-साता-पृच्छा ।

इच्छाकार सुहराई सुह-देवसि सुख-तप शरीर निराबाध सुख-संजम-जात्रा निर्वहो छो जी स्वामिन् ! शाता है ? आहार पानी का लाभ दीजो जी ।

* इच्छामि क्षमाश्रमण ! वन्दितु यापनीयया नैषेधिक्या मस्तकेन वन्दे ।

भावार्थ—मैं समझता हूँ कि आपकी रात सुख पूर्वक बीती होगी, दिन भी सुख पूर्वक बीता होगा, आप की तपश्चर्या सुख पूर्वक पूर्ण हुई होगी, आपके शरीर को किसी तरह की बाधा न हुई होगी और इससे आप संयम-यात्रा का अच्छी तरह निर्वाह करते होंगे। हे स्वामिन्! कुशल है? अब मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप आहार पानी लेकर मुझको धर्मलाभ देवें।

५—अब्भुट्ठिओ (गुरु-खामणा) सूत्र।

† इच्छाकारेण संदिसह भगवन्? अब्भुट्ठिओ हं अब्भिंतर-देवसिअं खामेउं ।

अन्वयार्थ— 'अहं' मैं 'अब्भिंतरदेवसिअं' दिन के अन्दर किये हुए अपराध को 'खामेउं' खमाने के लिये 'अब्भुट्ठिओ' तत्पर हुआ हूँ। इस लिये 'भगवन्' हे गुरु! [आप] 'इच्छाकारेण' इच्छापूर्वक 'संदिसह' आज्ञा दीजिये।

❀ इच्छं,खामेमि देवसिअं

अन्वयार्थ—'इच्छं' आप की आज्ञा प्रमाण है। 'खामेमि देवसिअं' अब मैं दैनिक अपराध को खमाता हूँ।

---

† इच्छाकारेण संदिशत भगवन् अभ्युत्थितोऽहमाभ्यन्तरदैवसिकं क्षमयितुम्।

❀ इच्छामि, क्षमयामि दैवसिकम्।

† जं किंचि अपत्तिअं पर-पत्तिअं, भत्ते, पाणे, विणए, वेआवच्चे, आलावे, संलावे, उच्चासणे, समासणे, अन्तर-भासाए, उवरि-भासाए जं किंचि मज्झ विणय-परिहीणं सुहुमं वा बायरं वा तुब्भे जाणह, अहं न जाणामि, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

अन्वयार्थ— हे गुरु! 'जं किंचि' जो कुछ 'अपत्तिअं' अप्रीति या 'परपत्तिअं' विशेष अप्रीति (हुई हो, उसका पाप निष्फल हो) तथा 'भत्ते' आहार में, 'पाणे' पानी में, 'विणए' विनय में, 'वेआवच्चे' सेवा-शुश्रुषा में, 'आलावे' एक बार बोलने में, 'संलावे' बार बार बोलने में, 'उच्चासणे' ऊँचे आसन पर बैठने में, 'समासणे' बराबर के आसन पर बैठने में, अंतर-भासाए' भाषण के बीच बोलने में, या 'उवरि-भासाए' भाषण के बाद बोलने में 'मज्झ' मुझ से 'सुहुमं' सूक्ष्म 'वा' अथवा 'बायरं स्थूल 'जं किंचि जो कुछ 'विणय-परिहीणं' अविनय हुआ हो जिसको 'तुब्भे' आप 'जाणह' जानते हो 'अहं' मैं 'न' नहीं 'जाणामि' जानता, 'तस्स' उसका 'दुक्कडं' पाप 'मि' मेरे लिये 'मिच्छा' मिथ्या हो।

भावार्थ—हे गुरु! मुझ से जो कुछ सामान्य या विशेष रूप से अप्रीति हुई हो उसके लिये 'मिच्छा मि दुक्कडं'। इसी तरह

---

† यत्किञ्चिदप्रीतिकं, पराप्रीतिकं, भक्ते, पाने, विनये, वैयावृत्ये, आलापे संलापे, उच्चासने, समासने, अन्तर्भाषायां, उपरिभाषायां, यत्किञ्चिन्मम विनयपरिहीणं सूक्ष्मं वा बादरं वा यूयं जानीथ, अहं न जाने तस्य मिथ्या, मे दुष्कृतम्।

आप के आहार-पानी के विषय में या विनय-वैयावृत्य के विषय में, आप के साथ एक बार बात चीत करने में, या अनेक बार बात चीत करने में आप से ऊँचे आसन पर बैठने से या बराबर आसन पर बैठने में, आप के सभाषण के बीच या बाद बोलने में, मुझसे थोड़ा बहुत जो कुछ अविनय हुआ हो, उसकी मैं माफी चाहता हूँ।

६—मुहपत्ती के पच्चीस बोल।

१ सूत्र-अर्थ सच्चा सद्दहूँ, २ सम्यक्त्व-मोहनीय, ३ मिथ्यात्व-मोहनीय, ४ मिश्र-मोहनीय परिहरूँ। ५ काम-राग, ६ स्नेह-राग, ७ दृष्टि-राग परिहरूँ †। १ ज्ञान-विराधना, २ दर्शन-विराधना, ३ चारित्र-विराधना परिहरूँ। ४ मनो-गुप्ति, ५ वचन-गुप्ति, ६ कायगुप्ति आदरूँ। ७ मनो-दण्ड, ८ वचन-दंड, ९ काय-दण्ड परिहरूँ *। १ सुगुरु, २ सुदेव, ३ सुधर्म आदरूँ; ४ कुगुरु, ५ कुदेव, ६ कुधर्म परिहरूँ। ७ ज्ञान, ८ दर्शन, ९ चारित्र आदरूँ †।

---

† इन सात बोल मुहपत्ती खोलते समय कहने चाहिएँ।

* ये नव बोल दाहिने हाथके पडिलेहण के समय कहने चाहिये।

† ये नव बोलों का चिन्तन बाँये हाथ के पडिलेहण के वक्त करना चाहिये।

७—अंगकी पडिलेहण के २५ बोल *

कृष्ण लेश्या १, नील लेश्या २, कापोत लेश्या ३ परिहरूँ (मस्तके)। ऋद्धि-गारव १, रस-गारव २, साता-गारव ३ परिहरूँ (मुखे)। माया-शल्य, १, निदान-शल्य २, मिथ्यादर्शन-शल्य ३ परिहरूँ (हृदये)। क्रोध १, मान २, परिहरूँ (दहिना कन्धा)। माया १, लोभ २ परिहरूँ (बायाँ कन्धा)। हास्य १, रति २, अरति ३ परहरूँ (बायां हाथ)। भय १, शोक २, दुगंछा ३ परिहरूँ (दाहिना हाथ)। पृथ्वीकाय १, अप्काय २, तेऊकाय ३ परिहरूँ (बाँया पैर)। वायुकाय १, वनस्पतिकाय २, त्रसकाय ३ परिहरूँ (दहिनापैर)।

---

* ये बोल कहते समय जिस स्थान का नाम कौंस में लिखा है उस स्थान पर मुहपत्ति (मुखवस्त्रिका) रखते जाना चाहिए। पडिलेहण में बोल-चिन्तन करने का प्रयोजन यह है कि शुभ अथवा अशुभ राग द्वेष की प्रवृत्ति प्रथम परिणामों की धारा से उत्पन्न होती है फिर वचन और काया से प्रगट होती है, इसी-लिये नैगमनय की अपेक्षा से प्रथम संकल्प, आरोप और अंश रूप कार्य को पूर्ण रूप से माना गया है, तो जिस तरह मन द्वारा, प्रथम राग-द्वेष का संकल्प ऊठता है, उसी प्रकार से मन द्वारा ही उसका पश्चात्ताप करने से आत्मा शुद्ध हो जाती है। इसी लिये इन बोलों का चिन्तवन करने से कर्मपरमाणुओं का समूह आत्मा से अलग होकर आत्मा की शुद्धता होती है।

८—सामयिक सूत्र ।

*करेमि भंते ! सामाइयं । सावज्ज जोग पच्चक्खामि । जावनियमं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥

अन्वयार्थ—'भंते' हे भगवन् ! [मैं] 'सामाइयं' सामायिक व्रत 'करेमि' ग्रहण करता हूँ [और] 'सावज्ज' पाप-सहित 'जोग' व्यापार का 'पच्चक्खामि' प्रत्याख्यान—त्याग करता हूँ । 'जाव' जब तक [मैं] 'नियमं' इस नियम का 'पज्जुवासामि' पर्युपासन—सेवन करता रहूँ [तब तक] 'तिविहेणं' तीन प्रकार के [योगों से] अर्थात् 'मणेणं वायाए काएणं' मन, वचन, काया से 'दुविहं' दो प्रकार का [त्याग करता हू] अर्थात् 'न करेमि' [सावद्य योग को] न करूँगा [और] 'न कारवेमि' न कराऊँगा । 'भंते' हे स्वामिन् ! 'तस्स' उससे—प्रथम के पाप से [मैं] 'पडिक्कमामि' निवृत्त होता हू, 'निन्दामि' [उसकी] निन्दा करता हूँ, [और] 'गरिहामि' गर्हा—विशेष निन्दा करता हू 'अप्पाणं' आत्मा को [उस पाप व्यापार से] 'वोसिरामि' हटाता हूँ ।

---

* करोमि भदन्त ! सामायिकम् । सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि । यावन्नियमं पर्युपासे, द्विविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

भावार्थ— मैं सामयिक व्रत ग्रहण करता हूं। रागद्वेश का अभाव या ज्ञान दर्शन-चारित्र का लाभ ही सामयिक है। इसलिये पाप वाले व्यापारों का मैं त्याग करता हूं।

जब तक मैं इस नियम का पालन करता हूं तब तक मन, वचन और शरीर इन तीन साधनों से पाप व्यापार को न स्वयं करूँगा और न दूसरे से कराऊँगा।

हे स्वामिन्! पूर्व-कृत पाप से मैं निवृत्त होता हूँ, अपने हृदय में उसे बुरा समझता हूँ, और गुरु के सामने उसकी निन्दा करता हूं। इस प्रकार मैं अपने आत्मा को पाप-क्रिया से छुड़ाता हूं।



६-इरियावहियंसूत्र।

❀ इच्छा कारेण संदिसह भगवन्! इरियावहियं पडिक्कमामि इच्छं।

† इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए, गमणागमणे, पाणक्कमणे, विमक्कमणे, हरिय-

---

❀ इच्छाकारेण संदिशत भगवन्! ईर्यापथिकीं प्रतिक्रामामि। इच्छामि।

† इच्छामि प्रतिक्रमितुं ईर्यापथिकायाँ विराधनायाम्। गमनागमने प्राणाक्रमणे बीजाक्रमणे, हरिताक्रमणे, अवश्यायोत्तिङ्ग-पनक-दक-मृत्तिका-मर्कट-संतान-संक्रमणे ये मया जीवा विराधिताः-एकेन्द्रियः, द्वीन्द्रियः, त्रिन्द्रियः चतुरिन्द्रियः, पञ्चेन्द्रियः, अभिहताः वर्तिताः, श्लेषताः, संघहिताः, संघट्टिताः, परितापिताः, क्लमिताः, अवद्राविताः, स्थानात् स्थानं संक्रमिताः, जीविताद् व्यपरोपिताः, तस्य मिथ्या मम दुष्कृतम्।

क्कमणे, श्रोसा-उत्तिंग पणग दग मट्टी-मक्कडा संताणा-संकमणे, जे मे जीवा विराहिया-एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया, अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया परियाविया, किलामिया उद्दविया, ठाणाश्रो ठाणं संकामिया, जिवियाश्रो ववरोविया तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

अन्वयार्थ— 'इरियावहियाए' ईर्यापथ सम्बन्धिनी-रास्ते पर चलने आदि से होने वाली-'विराहणाए' विराधना से 'पडिक्कमिउं' निवृत्त होना-हटना व बचना 'इच्छामि' चाहता हूं। (तथा) 'मे' मैंने 'गमणागमणे' जाने आने में 'पाणक्कमणे' किसी प्राणी को दबाकर 'बीयक्कमणे' बीज को दबाकर 'हरियक्कमणे' वनस्पति को दबाकर, (या) 'श्रोसा' ओस 'उत्तिंग' चींटी के बिल 'पणग' पाँच रंगकी काई, 'दग' पानी, 'मट्टी' मिट्टी और 'मक्कडासंताणा' मकड़ी के जालोंको 'संकमणे' खूँद व कुचल कर 'जे' जिस किसी प्रकार के-'एगिंदिया' एक इन्द्रियवाले 'बेइंदियो' दो इन्द्रिय वाले, 'तेइंदिया' तीन इन्द्रिय वाले, 'चउरिंदिया' चार इन्द्रिय वाले (या) 'पंचिंदिया' पाँच इन्द्रिय वाले 'जीवा' जीवों को 'विराहिया' पीड़ित किया हो, 'अभिहया' चोट पहुँचाई हो, 'वत्तिया' धूल आदि से ढाँका हो, 'लेसिया' आपस में अथवा जमीन पर मसला हो, 'संघाइया' इकट्ठा किया हो, 'संघट्टिया' छुआ हो, 'परियाविया' परिताप-कष्ट पहुँचाया हो, 'किलामिया' थकाया हो, 'उद्दविया' हैरान किया हो, 'ठाणाश्रो' एक जगह से 'ठाणं' दूसरी जगह 'संकामिया' रक्खा हो, (विशेष क्या, किसी तरह से उनको) 'जीवियाश्रो' जीवन

से 'ववरोविया' छुड़ाया हो, 'तस्स' उसका 'दुक्कड' पाप 'मि' मेरे लिये 'मिच्छा' निष्फल हो।

भावार्थ— रास्ते पर चलने-फिरने आदिसे जो विराधना होती है उससे या उससे लगने वाले अतिचार से मैं निवृत्त होना चाहता हूँ अर्थात् आयंदा ऐसी विराधना न हो इस विषयमें सावधानी रखकर उनसे बचना चाहता हूँ।

जाते आते मैंने भूलकालमें किसीके इन्द्रिय आदि प्राणों को दबाकर सचित्त बीज तथा हरी वनस्पतिको कुचल कर, ओस चींटीके बिल, पाँचों वर्ण की काई, सचित्त जल, सचित्त मिट्टी और, मकड़ के जालों को रौंद कर किसी जीव की हिंसा की- जैसे एक इन्द्रिय वाले या, दो इन्द्रिय वाले, तीन इन्द्रिय वाले, चार इन्द्रिय वाले, या पाँच इन्द्रिय वाले जीवोंको मैंने चोट पहुँचाई उन्हें धूल आदिसे ढाँका, जमीन पर या आपसमें रगड़ा, इकट्ठा करके उनका ढेर किया, उन्हें क्लेश जनक रीतिसे छुआ, क्लेश पहुँचाया, थकाया, हैरान किया, एक जगह से दूसरी जगह उन्हें बुरी तरह रक्खा, इस प्रकार किसी भी तरह से उसका जीवन नष्ट किया, उसका पाप मेरे लिये निष्फल हो अर्थात् जानते अन-जानते विराधना आदि से कषाय द्वारा मैंने जो पाप कर्म बाँधा उसके लिये मैं हृदय से पछताता हूँ, जिससे कि कोमल परिणाम के द्वारा पाप-कर्म नीरस हो जावे और मुझको उसका फल भोगना न पड़े।

१०—तस्स उत्तरी सूत्र।

✽ तस्स उत्तरी-करणेणं, पायच्छित्त-करणेणं, विसोही-करणेणं, विसल्ली-करणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।

अन्वयार्थ— 'तस्स' उसको 'उत्तरीकरणेणं श्रेष्ठ—उत्कृष्ट बनानेके निमित्त 'पायच्छित्तकरणेणं प्रायश्चित्त—आलोचना करनेके लिये 'विसोहीकरणेणं' विशेष शुद्ध करने के लिये 'विसल्लीकरणेणं' † शल्य का त्याग करने के लिये 'पावाणं' पाप 'कम्माणं' कर्मों का 'निग्घायणट्ठाए' नाश करनेके लिये 'काउस्सग्गं' कायोत्सर्ग 'ठामि' करता हूँ।

भावार्थ—ईर्यापथिकी क्रिया से पाप मल लगने के कारण आत्मा मलिन हुआ इसकी शुद्धि मैंने 'मिच्छा मि दुक्कडं' द्वारा की है। तथा परिणाम पूर्ण शुद्ध न होने से वह अधिक निर्मल न हुआ हो तो उसको अधिक निर्मल बनाने के निमित्त उस पर बार बार अच्छे संस्कार डालने चाहिये। इसके लिये प्रायश्चित करना आवश्यक है। प्रायश्चित्त भी परिणाम की विशुद्धि के सिवाय नहीं हो सकता, इसलिये परिणाम विशुद्धि आवश्यक है। परिणाम की विशुद्धता के लिये शल्यों का त्याग करना जरूरी है। शल्यों का त्याग और अन्य सब पाप कर्मों का नाश काउस्सग्ग से ही हो सकता है। इसलिये मैं काउसग्ग करता हू।

✽ तस्योत्तरीकरणेन प्रायश्चित्तकरणेन विशोधिकरणेन विशल्यीकरणेन पापानां कर्मणां निर्घातनार्थं तिष्ठामि कायोत्सर्गम्।

† शल्य तीन हैं—(१) माया (कपट), (२) निदान (फल-कामना (३) मिथ्यात्व (कदाग्रह), (समवायाग सू० ३)।

११—अन्नत्थ ऊससिएणं सूत्र ।

*अन्नत्थ ऊससिएणं, नीससिएणं खासिएणं, छीएणं, जंभाइएणं, उड्डुएणं वाय-निसग्गेणं, भमलीए, पित्त मुच्छाए सुहुमेहिं अंग-संचालेहिं, सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं सुहुमेहिं दिट्ठि-संचालेहिं एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो । जाव अरिहंताणं भगवंताणं णमुक्कारेणं न पारेमि ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि ॥

अन्वयार्थ—'ऊससिएणं' उच्छवास "नीससिएणं" निःश्वास "खासिएणं" खाँसी "छीएणं" छींक "जंभाइएणं" जँभाई—उबासी "उड्डुएणं" डकार "वायनिसग्गेणं वायु का सरना "भमलीए" सिर आदि का चकराना "पित्तमुच्छाए" पित्त विकार की मूर्छा "सुहुमेहिं" सूक्ष्म "अङ्ग संचालेहिं" अङ्ग संचार "सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं" सूक्ष्म कफ संचार "सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं" सूक्ष्म

---

*अन्यत्रोच्छ्वसितेन निःश्वसितेन कासितेन क्षुतेन जृम्भितेन उद्गारितेन वातनिसर्गेण भ्रमर्या पित्तमूर्च्छया सूक्ष्मैरंगसंचालैः सूक्ष्मैः श्लेष्मसंचालैः सूक्ष्मैर्दृष्टिसञ्चालैः एवमादिभिराकारैरभग्नाविराधितो भवतु मम कायोत्सर्गः ।

यावदर्हतां भगवतां नमस्कारेण न पारयामि तावत्कायं स्थानेन मौनेन ध्यानेनात्मीयं व्युत्सृजामि ।

दृष्टि सचार "एवमाइएहिं" ※ इत्यादि "आगारेहिं" आगारों से "अभग्गो" अन्य क्रियाओं के द्वारा "मे" मेरा "काउस्सग्गो" कायोत्सर्ग "अभग्गो" अभग्न (तथा) "अविराहिओ" अखण्डित "हुज्ज" हो।

'जाव' जब तक 'अरिहंताणं' अरिहन्त 'भगवंताणं' भगवान् को "णमुक्कारेणं" नमस्कार करके (कायोत्सर्ग) "न पारेमि" न पारूं "ताव" तब तक "ठाणेणं" स्थिर रहकर "मोणेणं" मौन रह कर "झाणेणं" ध्यान धर कर "अप्पाणं" अपने "काय" शरीर को (अशुभ व्यापारों से) "वोसिरामि" अलग करता हूँ।

भावार्थ— (कुछ आगारों का कथन तथा कायोत्सर्ग के अखण्डितपन की चाह)। श्वास का लेना तथा निकालना, खाँसना, छींकना, जँभाई लेना, डकारना, अपान वायु का सरना, सिर आदि घुमना, पित्त बिगड़ने से मूर्च्छा का होना,

---

※ 'आदि' शब्द से नीचे लिखे हुए चार आगार और समझने चाहिएँ (१) आग - उपद्रव से दूसरा जगह जाना। (२) बिल्ली, चूहे आदिका ऐसा उपद्रव जिससे कि स्थापनाचार्य के बीच बार बार आड पड़ती हो इस कारण या किसी पञ्चेन्द्रिय जीव के छेदन-भेदन होने के कारण अन्य स्थान में जाना। (३) एकाएक डकैती पड़ने या राजा आदि के सताने से स्थान बदलना। (४) शेर आदि के भय से, सांप आदि विषैले जन्तु के डक से या दिवाल आदि गिर पड़ने की शंका से दूसरे स्थान को जाना।

कायोत्सर्ग करने के समय ये आगार इसलिये रखे जाते हैं कि सबकी शक्ति एक सी नहीं होती। जो कमताकत व डरपोक हैं वे ऐसे मौके पर इतने घबरा जाते हैं कि धर्म-ध्यान के बदले आर्त्त-ध्यान करने लगते हैं, इसलिये उन अधिकारियों के निमित्त ऐसे आगारों का रक्खा जाना आवश्यक है। आगार रखने में अधिकार-भेद ही मुख्य कारण है।

अङ्ग का सूक्ष्म हिलन चलन, कफ थूक आदि का सूक्ष्म झरना, दृष्टि का सूक्ष्म संचलन-ये तथा इसके सदृश अन्य क्रियाएँ जो स्वयमेव हुआ करती हैं और जिनके रोकने से अशान्ति का सम्भव है उनके होते रहने पर भी काउस्सग्ग अभङ्ग ही है। परन्तु इनके सिवाय अन्य क्रियाएँ जो आप ही आप नहीं होतीं—जिनका करना-रोकना इच्छा के अधीन है-उन क्रियाओं से मेरा कायोत्सर्ग अखण्डित रहे अर्थात् अपवादभूत क्रियाओं के सिवाय अन्य कोई भी क्रिया मुझसे न हो और इससे मेरा काउस्सग्ग सर्वथा अभङ्ग रहे यही मेरी अभिलाषा है।

(काउस्सग्ग का काल-परिमाण तथा उसकी प्रतिज्ञा)। मैं अरिहंत भगवान को "णमो अरिहंताणं" शब्द द्वारा नमस्कार करके काउस्सग्ग को पूर्ण न करूँ तब तक शरीर से निश्चल बन कर, वचन से मौन रह कर और मन से शुभ ध्यान धर कर पापकारी सब कामों से हट जाता हूँ—कायोत्सर्ग करता हूं।

१२—लोगस्स सूत्र

*लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसंपि केवली ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—"लोगस्स" लोक में "उज्जोअगरे" उद्योत प्रकाश करने वाले, "धम्मतित्थयरे" धर्म तीर्थ को स्थापन करने वाले, "जिणे" राग द्वेष को जीतने वाले, "चउवीसंपि" चौबीसों,

---

* लोकस्योद्योतकरान्, धर्मतीर्थकरान् जिनान्।
अर्हतः कीर्तयिष्यामि चतुर्विंशतिमपि केवलिनः॥ १॥

"केवली" केवलज्ञानी, "अरिहंते" तीर्थङ्करों का "कित्तइस्सं" मैं स्तवन करूँगा ॥ १ ॥

भावार्थ— (तीर्थङ्करों के स्तवन की प्रतिज्ञा) स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—तीनों जगत में धर्म का उद्द्योत करने वाले, धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले और राग द्वेष आदि अन्तरङ्ग शत्रुओं पर विजय पाने वाले चौबीसों केवलज्ञानी तीर्थङ्करों का मैं स्तवन करूँगा ॥ १ ॥

†उसभमजिअं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ २ ॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअलसिज्जंसवासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ३ ॥
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ— "उसभं" श्रीऋषभदेव स्वामी को "च" और 'अजिअं' श्रीअजितनाथ को 'वंदे' वन्दन करता हूँ। 'संभवं' श्रीसंभवनाथ स्वामी को, 'अभिणंदणं' श्री अभिनन्दन स्वामी

---

† ऋषभमजितं च वन्दे संभवमभिनन्दनं च सुमतिं च ।
पद्मप्रभं सुपार्श्वं जिनं च चन्द्रप्रभं वन्दे ॥ २ ॥
सुविधिं च पुष्पदन्तं शीतलश्रेयांसवासुपूज्यं च ।
विमलमनन्तं च जिनं धर्मं शान्तिं च वन्दे ॥ ३ ॥
कुन्थुमरं च मल्लिं वन्दे मुनिसुव्रतं नमिजिनं च ।
वन्देऽरिष्टनेमिं पार्श्वं तथा वर्द्धमानं च ॥ ४ ॥

को, 'सुमइं' श्रीसुमतिनाथ प्रभु को, 'पउमप्पहं' श्रीपद्मप्रभु स्वामी को, 'सुपासं' श्रीसुपार्श्वनाथ भगवान् को 'च' और 'चंदप्पहं' श्रीचन्द्रप्रभु 'जिणं' जिन को 'वन्दे' वन्दन करता हूँ। 'सुविहिं' श्रीसुविधिनाथ—[दूसरा नाम] 'पुप्फदंतं' श्रीपुष्प-दन्त भगवान् को, 'सीअल' श्रीशीतलनाथ को, 'सिज्जंस' श्रीश्रेयांसनाथ को 'वासुपुज्जं' श्रीवासुपूज्य को, 'विमलं' श्री-विमलनाथ को, 'अणंतं' श्रीअनन्तनाथ को, 'धम्मं' श्रीधर्मनाथ को 'च' और 'संतिं' श्रीशान्तिनाथ 'जिणं' जिनेश्वर को, 'वंदामि' वन्दन करता हूँ। 'कुंथुं' श्रीकुन्थुनाथ को, 'अरं' श्रीअरनाथ को, 'मल्लिं' श्रीमल्लिनाथ को 'मुणिसुव्वयं' श्रीमुनिसुव्रत को, 'च' और 'नमिजिणं' श्रीनमिनाथ जिनेश्वर को 'वन्दे' वन्दन करता हूँ। 'रिट्ठनेमिं' श्रीअरिष्टनेमि—श्रीनेमिनाथ को 'पासं' श्रीपार्श्वनाथको 'तह' तथा 'वद्धमाणं' श्रीवर्द्धमान—श्रीमहावीर भगवान को 'वदामि' वन्दन करता हूं ॥ २-४ ॥

भावार्थ— स्तवन) श्रीऋषभनाथ, श्रीअजितनाथ, श्रीसंभवनाथ, श्रीअभिनन्दन, श्रीसुमतिनाथ, श्रीपद्मप्रभ, श्रीसुपार्श्व-नाथ, श्रीचन्द्रप्रभ, श्रीसुविधिनाथ, श्रीशीतलनाथ, श्रीश्रेयांसनाथ, श्रीवासुपूज्य, श्रीविमलनाथ, श्रीअनन्तनाथ, श्रीधर्मनाथ, श्रीशा-न्तिनाथ, श्रीकुन्थुनाथ, श्रीअरनाथ, श्रीमल्लिनाथ श्रीमुनिसुव्रत, श्री-नमिनाथ, श्रीअरिष्टनेमि, श्रीपार्श्वनाथ और श्रीमहावीर स्वामी—इन चौबीस जिनेश्वरों को मैं स्तुति वन्दना करता हूँ ॥ २-४ ॥

*** एवं मए अभिथुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।**

---

* एवं मयाऽभिष्टुता विधूतरजोमलाः प्रहीणजरामरणाः ।
चतुर्विंशतिरपि जिनवरास्तीर्थकरा मे प्रसीदन्तु ॥ ५ ॥

चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—'एव' इस प्रकार 'मए' मेरे द्वारा 'अभिथुआ' स्तवन किये गये, 'विहुयरयमला' पाप रज के मल से विहीन, 'पहीणजरमरणा' बुढ़ापे तथा मरण से मुक्त, 'तित्थयरा' तीर्थ के प्रवर्तक 'चउवीसंपि' चौवीसों 'जिणवरा' जिनेश्वर देव 'मे' मेरे पर 'पसीयंतु' प्रसन्न हों ॥ ५ ॥

भावार्थ— (भगवान से प्रार्थना) जिनकी मैंने स्तुति की है जो कर्ममल से रहित हैं जो जरा मरण दोनों से मुक्त हैं, और जो तीर्थ के प्रवर्त्तक हैं वे चौवीसों जिनेश्वर मेरे पर प्रसन्न हों—उनके आलम्बन से मुझमें प्रसन्नता हो ॥ ५ ॥

*** कित्तियवंदियमहिया जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।**
आरुग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—'जे' जो 'लोगस्स' लोक में 'उत्तमा' प्रधान [तथा] 'सिद्धा' सिद्ध हैं [और जो] 'कित्तियवंदियमहिया' कीर्त्तन, वन्दन तथा पूजन को प्राप्त हुए हैं 'ए' वे [मुझको] 'आरुग्गबोहिलाभं' आरोग्य का तथा धर्म का लाभ [और] 'उत्तमं' उत्तम 'समाहिवरं' समाधि का वर 'दिंतु' देवें ॥ ६ ॥

भावार्थ— जिनका कीर्तन, वन्दन और पूजन नरेन्द्रों, नागेन्द्रों तथा देवेन्द्रों तक ने किया है, जो संपूर्ण लोक में उत्तम हैं और जो सिद्धि को प्राप्त हुए हैं वे भगवान मुझ को आरोग्य,

---

* कीर्तितवन्दितमहिता य एते लोकस्योत्तमा सिद्धाः।
आरोग्यबोधिलाभं समाधिवरमुत्तमं ददतु ॥ ६ ॥

सम्यक्त्व तथा समाधि का श्रेष्ठ वर देवें उनके आलम्बन से बल पाकर मैं आरोग्य आदि का लाभ करूँ ॥ ६ ॥

† चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहिय पयासयरा।
सागरवरगम्भीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।७॥

अन्वयार्थ— 'चंदेसु' चन्द्रों से 'निम्मलयरा' विशेष निर्मल, "आइच्चेसु" सूर्यों से भी "अहियं" अधिक पयासयरा' प्रकाश करने वाले [और] सागरवरगंभीरा' महासमुद्र के समान गम्भीर 'सिद्धा' सिद्ध भगवान् 'मम' मुझको "सिद्धि"-मोक्ष 'दिसंतु' देवें ॥ ७ ॥

भावार्थ— सिद्ध भगवान जो सब चन्द्रों से विशेष निर्मल है, सब सूर्यों से विशेष प्रकाशमान हैं और स्वयंभूरमण-नामक महासमुद्र के समान गम्भीर हैं, उनके आलम्बन से मुझ को सिद्धि—मोक्ष प्राप्त हो ॥ ७ ॥

१३—जयउ सामिय सूत्र।

❀ जयउ सामिय जयउ सामिय रिसह सत्तुंजि,
उज्जिंति पहु नेमिजिण, जयउ वीर सच्चउरिमंडण,

---

† चन्द्रेभ्यो निर्मलतरा आदित्येभ्योऽधिकं प्रकाशकराः।
सागरवरगम्भीराः सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु ॥ ७ ॥

❀ जयतु स्वामिन् जयतु स्वामिन्! ऋषभ शत्रुञ्जये, उज्जयन्ते

डिहिं केवलीण, कोडिसहस्स नव साहु †गम्मइ ।
संपइ जिणवर वीस, मुणि बिहु कोडिहिं वरनाण,
समणह कोडिसहसदुअ थुणिज्जइ निच्च विहाणि ॥

अन्वयार्थ—'कम्मभूमिहिं कम्मभूमिहिं' सब कर्मभूमियों में [मिलकर] 'पढमसंघयणि' प्रथम संहनन वाले 'विहरंत' विहरमाण 'जिणवराण' जिनेश्वरों की 'उक्कोसय' उत्कृष्ट [संख्या] 'सत्तरिसय एक सौ सत्तर ‡ १७० की 'लब्भइ' पायी जाती है [तथा] 'केवलीण' सामान्य केवलज्ञानियों की [संख्या] नवकोडिहिं' नव करोड़ [और] 'साहु' साधुओं की [संख्या] 'नव नव 'कोडिसहस्स' हजार करोड़ 'गम्मइ' पायी जाती है। 'संपइ वर्तमान समय में 'जिणवर' जिनेश्वर 'वीस' बीस * हैं, 'वरनाण' प्रधान ज्ञान वाले—केवलज्ञानी 'मुणि' मुनि 'बिहु' दो 'कोडिहिं करोड़ है, [और] 'समणह' सामान्य श्रमण—मुनि 'कोडिसहसदुअ' दो हजार करोड़ हैं, [उनकी] 'निच्च' सदा 'विहाणि' प्रातःकाल में 'थुणिज्जइ' स्तुति की जाती है ॥ ३ ॥

---

† पाठान्तर 'संपइ'

‡ पाँच भरत, पाँच ऐरवत और महाविदेह की १६० विजय कुल १७० विभाग कर्मक्षेत्र के हैं, उनसब में एक २ तीर्थङ्कर होने के समय उत्कृष्ट संख्या पायी जाती है जो दूसरे श्रीअजितनाथ तीर्थङ्कर के जमाने में थी।

* जम्बूद्वीप के महाविदेह की चार, धातकीखण्ड के दो महाविदेहों की आठ और पुष्करार्ध के दो महाविदेहों की आठ इन बीस विजयों में एक एक तीर्थङ्कर नियम से होवे ही हैं। इस कारण उनकी जघन्य संख्या बीस की मानी हुई है जो इस समय है।

भावार्थ—[तीर्थङ्कर, केवली और साधुओं की स्तुति] सब कर्म-भूमियों मे-पाँच भरत, पाँच ऐरवत, और पाँच महाविदेह में-विचरते हुए तीर्थङ्कर अधिक से अधिक १७० पाये जाते हैं। वे सब प्रथम संहनन वाले ही होते हैं। सामान्य केवली उत्कृष्ट नव करोड़ और साधु उत्कृष्ट नव हजार करोड़—९० अरब पाये जाते हैं। परन्तु वर्त्तमान समय में उन सब की संख्या जघन्य है; इसलिये तीर्थङ्कर सिर्फ २०, केवलज्ञानी मुनि दो करोड़ अन्य साधु दो हजार करोड़—२० अरब—हैं। इन सब की मैं हमेशा प्रातःकाल में स्तुति करता हूं ॥ २ ॥

***सत्ताणवइ सहस्सा, लक्खा छप्पन्न अट्ठ कोडीओ।**
चउसय छायासीया, तिअलोए चेइए वंदे ॥ ३ ॥
वन्दे नवकोडिसयं, पणवीसं कोडि लक्ख तेवन्ना।
अट्ठावीस सहस्सा, चउसय अट्ठासिया पड़िमा ॥४॥

अन्वयार्थ—'तिअलोए' तीन लोक में "अट्ठ कोडीओ" आठ करोड़, 'छप्पन्न' छप्पन "लक्खा" लाख "सत्ताणवइ" सत्तानवे "सहस्सा" हजार 'चउसय' चार सौ "छायासीया" छयासी "चेइए" चैत्य—जिनप्रासाद है (उनको) 'वंदे' वन्दन करता हूँ। "नवकोडिसयं पणवीसं कोडिं' नव सौ पच्चीस करोड़ "तिवन्ना लक्ख" तिरपन लाख "अट्ठावीस सहस्सा" अठाइस हजार "चउ-

---

* सप्तनवतिं सहस्राणि, लक्षाणि षट्पञ्चाशतमष्ट कोटीः।
चतुःशतीं षडशीतीं, त्रैलोक्ये चैत्यानि वन्दे ॥ ३ ॥
वन्दे नवकोटिशतं, पञ्चविंशतिं कोटीर्लक्षाणि त्रिपञ्चाश
अष्टाविंशतिं सहस्राणि, चतुःशतीमष्टाशीतिं प्रतिमाः

सय" चार सौ "अट्ठासिया" अठासी "पडिमा" जिन प्रतिमाओं को 'वंदे' वन्दन करता हूं ॥ ३-४ ॥

भावार्थ- (तीनो लोक के चैत्यो और प्रतिमाओ को वन्दन) स्वर्ग, मृत्यु और पाताल इन तीनो लोक के सपूर्ण चैत्यो की संख्या आठ करोड़ छप्पन लाख सत्तानवे हजार चार सौ छयासी (८५६९७४८६) है, उन सबको मैं वन्दन करता हू और नव से पचीस करोड़ तिरपन लाख अठाइस हजार चार सौ अट्ठासी (९२५५३२८४८८) प्रतिमाओं को वन्दन करता हू ॥ ३ ४ ॥

१४—जं किंचि सूत्र ।

*** जं किंचि नाम तित्थं सग्गे पायालि माणुसे लोए।**
जाइं जिण-बिंबाइं, ताइं सव्वाइं वंदामि ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'सग्गे' स्वर्ग 'पायालि' पाताल (और) 'माणुसे' मनुष्य "लोए" लोक में "जं" जो "किंचि" कोई 'तित्थ" तीर्थ "नाम" प्रसिद्ध हो तथा "जाइं" जो "जिणबिंबाइं" जिन बिम्ब हों "ताइं" उन "सव्वाइं" सब को "वंदामि" वन्दन करता हू ॥ १ ॥

भावार्थ—[तीर्थ और जिन बिम्बों को नमस्कार]। स्वर्ग लोक, पाताल लोक और मनुष्य-लोक में—ऊर्ध्व, अधो

---

* यत्किञ्चिन्नाम तीर्थं, स्वर्ग पाताले मानुषे लोके।
यानि जिनबिम्बानि तानि सर्वाणि वन्दे ॥ १ ॥

और मध्यम लोक में—जो ‡ तीर्थ और जिन-प्रतिमाएँ हैं उन सब को मैं वन्दन करता हूं ॥ १ ॥

१५—नमुत्थु णं सूत्र ।

† नमुत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं, आइगराणं

---

‡ वर्तमान कुछ तीर्थों के नाम:—शत्रुञ्जय, गिरिनार, तारंगा, शंखेश्वर, कुंभारिया, आबू, राणकपुर, केसरियाजी, बामणबाणा, मांडवगढ़, अन्तरीक्ष, मक्षी, हस्तिनापुर, इलाहाबाद, बनारस, अयोध्या, संमेतशिखर, राजगृह, काकंदी क्षत्रियकुण्ड, पावापुरी, चम्पापुरी इत्यादि ।

† नमोऽस्तु अर्हद्भ्यो भगवद्भ्य आदिकरेभ्यस्तीर्थकरेभ्यः स्वयंसंबुद्धेभ्यः पुरुषोत्तमेभ्यः पुरुषसिंहेभ्यः पुरुषवरपुण्डरीकेभ्यः पुरुषवरगन्धहस्तिभ्यः, लोकोत्तमेभ्यो लोकनाथेभ्यो लोकहितेभ्यो लोकप्रदीपेभ्यो लोकप्रद्योतकरेभ्यः, अभयदयेभ्यश्चक्षुर्दयेभ्यो मार्गदयेभ्यः शरणदयेभ्यो बोधिदयेभ्यः, धर्मदयेभ्यो धर्मदेशकेभ्यो धर्मनायकेभ्यो धर्मसारथिभ्यो धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्तिभ्यः, अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरेभ्यो व्यावृत्तच्छद्मभ्यः, जिनेभ्यो जापकेभ्यः तीर्णेभ्यस्तारकेभ्यः, बुद्धेभ्यो बोधकेभ्यः, मुक्तेभ्यो मोचकेभ्यः, सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्यः शिवमचलमरुजमनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्ति सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तेभ्यः ।

नमो जिनेभ्यो जितभयेभ्यः ।

तित्थयराणं सयं-संबुद्धाणं पुरिसुत्तमाणं, पुरिस-सी-हाणं पुरिस-वर पुंडरीआणं पुरसि-वर गन्धहत्थीणं, लोगुत्तमाणं लोग-नाहाणं लोग-हिआणं लोग-पईवाणं लोग-पज्जोअगराणं, अभय-दयाणं चक्खु दयाणं म-ग्गदयाणं सरण दयाणं बोहि-दयाणं, धम्म दयाणं धम्म-देसयाणं धम्म-नायगाणं धम्म सारहीणं धम्म-वर-चाउरंत-चक्कवट्टीणं, अप्पडिहय वर-नाण दंसण-धराणं विअट्ट-छउमाणं, जिणाणं जावयाणं, तिन्नाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं, मुत्ताणं मोअगाणं, सव्व-न्नूणंसव्वदरिसीणं सिवमयलमरुअमणंतमक्खयम-व्वाबाहमपुणरावित्ति सिद्धिगइ-नामधेयं ठाणं संप त्ताणं ।

नमो जिणाणं जिअ भयाणं ।।

अन्वयार्थ—"नमुत्थु णं" नमस्कार हो "अरिहंताणं भगवंताणं" अरिहंत भगवान् को (कैसे हैं वे भगवान् सो कहते हैः—) "आइगराणं" धर्म की शुरूआत करने वाले, "तित्थय-राणं" धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले, 'सयंसंबुद्धाणं' अपने आप ही बोध को पाये हुए, 'पुरिसुत्तमाणं' पुरुषों में श्रेष्ठ, 'पुरिस-सीहाणं' पुरुषों में सिंह के समान, 'पुरिस-वर-पुंडरीआणं' पुरुषों में श्रेष्ठ कमल के समान पुरिसवरगंधहत्थीणं' पुरुषों में प्रधान गन्ध हस्ति के समान, "लोगुत्तमाणं" लोगों में उत्तम, 'लोग नाहाणं'

लोगों के नाथ, 'लोग-हिआणं' लोगों के हित करने वाले, "लोग-पईवाणं" लोगों के लिये दीपक के समान, 'लोग पज्जोअ-गराणं' लोगों में उद्योत करने वाले, 'अभय-दयाणं' अभय देने वाले "चक्खु-दयाणं" नेत्र देने वाले, "मग्ग-दयाणं" धर्ममार्ग के दाता, 'सरण दयाणं' शरण देने वाले, 'बोहि-दयाणं' बोधि अर्थात् सम्यक्त्व देने वाले, 'धम्म दयाणं' धर्म्म के दाता, 'धम्म देसयाणं' धर्म के उपदेशक, 'धम्म नायगाणं' धर्म के नायक "धम्मसारहीणं" धर्म के सारथि, "धम्म वर चाउरंत-चक्कवट्टीणं" धर्म में प्रधान तथा चार गति का अन्त करने वाले, अतएव चक्रवर्त्ती के समान, 'अप्पडिहय वर नाण दंसण-धराणं" अप्रतिहत तथा श्रेष्ठ ऐसे ज्ञान दर्शन को धारण करने वाले, "विअट्ट छउमाणं" छद्म अर्थात् घाति-कर्मों से रहित, "जिणाणं जावयाणं" (राग-द्वेष को) स्वय जीतने वाले, औरों को जिताने वाले, "तिन्नाणं तारयाणं" (संसार से) स्वयं तरे हुए दूसरों को तारने वाले "बुद्धाणं बोहयाणं" स्वयं बोध को पाये हुए, दूसरों को बोध प्राप्त कराने वाले, "मुत्ताणं मोअ-गाणं" (बन्धन से) स्वयं छुटे हुए, दूसरों को छुड़ाने वाले, "सव्वन्नूणं" सर्वज्ञ, 'सव्वदरिसीणं' सर्वदर्शी (तथा) 'सिव' निरुपद्रव, "अयलं" स्थिर, "अरुअं" रोग रहित, "अणंतं" अन्त-रहित 'अक्खयं' अक्षय, 'अव्वाबाहं' बाधा-रहित, 'अपु-णराविति' पुनरागमन-रहित (ऐसे) "सिद्धि-गइनामधेयं ठाणं" सिद्धिगति-नामक स्थान को अर्थात् मोक्ष को 'संपत्ताणं' प्राप्त करने वाले।

'नमो' नमस्कार हो 'जिअ भयाणं' भय को जीतने वाले 'जिणाणं' जिन भगवानों को ॥

भावार्थ—अरिहंतों को मेरा नमस्कार हो, जो अरिहंत, भगवान अर्थात् ज्ञानवान् हैं, धर्म की आदि करने वाले हैं, साधु साध्वी श्रावक श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करने वाले हैं, दूसरे के उपदेश के सिवाय ही बोध को प्राप्त हुए हैं, सब पुरुषों में उत्तम है, पुरुषों में सिंह के समान निडर है, पुरुषों में कमल के समान अलिप्त है, पुरुषों में प्रधान गन्धहस्ति के समान सहनशील हैं, लोगों में उत्तम है, लोगों के नाथ है, लोगों के हितकारक है, लोक में प्रदीप के समान प्रकाश करने वाले हैं, लोक में अज्ञान अन्धकार का नाश करने वाले हैं, दुःखियों को अभयदान देने वाले हैं, अज्ञान से अन्ध ऐसे लोगों को ज्ञान रूप नेत्र देने वाले हैं, मार्ग-भ्रष्ट को अर्थात् गुमराह को मार्ग दिखाने वाले हैं, शरणागत को शरण देने वाले हैं, सम्यक्त्व-प्रदान करने वाले हैं, धर्म हीन को धर्म-दान करने वाले है जिज्ञासुओं को धर्म का उपदेश करने वाले है, धर्म के नायक—अगुए हैं, धर्म के सारथि सञ्चालक हैं, धर्म में श्रेष्ठ है तथा चक्रवर्ती के समान चतुरन्त हैं अर्थात् जैसे चार दिशाओं को विजय करने के कारण चक्रवर्ती चतुरन्त है कहलाता है वैसे अरिहंत भी चार गतियों का अन्त करने के कारण चतुरन्त कहलाते हैं, सर्व पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले ऐसे श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन को अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन को धारण करने वाले हैं, चार घाति कर्म रूप आवरण से मुक्त है, स्वयं संसार के पार

पहुँच चुके हैं; और दूसरों को भी उसके पार पहुंचाने वाले है; स्वयं ज्ञान को पाये हुए है और दूसरों को भी ज्ञान प्राप्त कराने वाले है स्वयं मुक्त है और दूसरों को भी मुक्ति प्राप्त कराने वाले हैं; सर्वज्ञ हैं सर्वदर्शी हैं तथा उपद्रव-रहित अचल रोगरहित अनन्त, अक्षय, व्याकुलता-रहित और पुनरागमन-रहित ऐसे मोक्ष स्थान को प्राप्त है ।

सब प्रकार के भयों को जीते हुए जिनेश्वरों को नमस्कार हो ।

जे अ अईआ सिद्धा, जे अ भविस्संतिणागए काले ।
संपइ अ वट्टमाणा, सव्वे तिविहेण वंदामि ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'जे' जो 'सिद्धा, सिद्ध 'अईया, भूतकाल में हो चुके हैं, 'जे, जो 'अणागए, भविष्यत् 'काले, काल में 'भविस्संति, होंगे 'अ, और [जो] 'संपइ, वर्तमान काल में 'वट्टमाणा विद्यमान है 'सव्वे इन सबको तिविहेण तीन प्रकार से अर्थात् मन वचन और काया से 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥१॥

भावार्थ—जो सिद्ध अर्थात् मुक्त हो चुके हैं जो भविष्य में मुक्त होने वाले हैं तथा वर्तमान में मुक्त हो रहे हैं उन सब- त्रैकालिक सिद्धों को मैं मन, वचन और शरीर से वन्दन करता हूं ॥ १० ॥

ये च अतीताः सिद्धा ये च भविष्यन्ति अनागते काले ।
सम्प्रति च वर्त्तमानाः सर्वान् त्रिविधेन वन्दे ॥ १ ॥

१६—जावंति चेइआइ सूत्र ।

*जावन्ति चेइआइं, उड्ढे अ अहे अ तिरिअ-लोए अ ।
सव्वाइं ताइ वन्दे, इह सन्तो तत्थ संताइ ॥१॥

अन्वयार्थ—'उड्ढे' ऊर्ध्व लोक में 'अ' और 'अहे' अधो लोक में 'अ' और 'तिरिअलोए' तिरछे लोक में 'तत्थ' जहाँ कहीं 'संताइ' वर्तमान 'जावंति' जितने 'चेइआइ' जिन बिम्ब हों "ताइं" उन "सव्वाइं" सबको 'इह' इस जगह 'संतो, रहता हुआ [मैं] 'वंदे' वन्दन करता हू ॥ १ ॥

भावार्थ—[सर्व चैत्य स्तुति] ऊर्ध्व लोक अर्थात् ज्योति लोंक और स्वर्गलोक, अधोलोक यानि पाताल में बसने वाले नागकुमारादि भवनपतियों का लोक और तिर्यग्लोक यानि इस मनुष्य लोक में जितनी जिन-प्रतिमाएँ हैं उन सब को मैं यहाँ अपने स्थान में रहा हुआ वन्दन करता हू ॥ १ ॥

१७—जावन्त केवि साहू सूत्र ।

† जावन्त केवि साहू, भरहेरवय महाविदेहे अ ।
सव्वेसिं तेसिं पणओ, तिविहेण तिदंडविरयाण ॥१॥

---

* यावन्ति चैत्यानि, ऊर्ध्वे चाधश्च तिर्यग्लोके च ।
सर्वाणि तानि वन्दे, इह सस्तत्र सन्ति ॥ १ ॥

† यावन्तः केऽपि साधवो भरतैरवतयोर्महाविदेहे च ।
सर्वेभ्यस्तेभ्य. प्रणतः त्रिविधेन त्रिदण्डविरतेभ्य. ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'भरह' भरत, 'एरवय' ऐरवत 'अ' और 'महाविदेहे' महाविदेह क्षेत्र में 'जावंत' जितने [और] 'केवि' जो कोई 'साहू' साधु हों 'तिविहेण' त्रि-करण-पूर्वक 'तिदंडविरयाणं' तीन दण्ड से विरत 'तेसिं' उन 'सव्वेसिं' सभों को [मैं "पणओ" प्रणत हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—[सर्व साधु स्तुति]। जो तीन दण्ड से त्रि-करण पूर्वक अलग हुए हैं अर्थात् मन, वचन, काया के अशुभ व्यापार को न स्वयं करते हैं न दूसरों से करवाते हैं और न करते हुए को अच्छा समझते हैं उन सब साधुओं को मैं नमन करता हूं ॥ १ ॥

१८—परमेष्ठि-नमस्कार।

नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः ॥

अर्थ—श्रीअरिहंत, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय और सब साधुओं को नमस्कार हो ॥

१९—उवसग्गहरं† स्तोत्र।

† यह स्तोत्र चतुर्दशपूर्वधारी आचार्य भद्रबाहु का बनाया हुआ कहा जाता है। इसके बारे में ऐसी कथा प्रचलित है कि इन आचार्य का एक वराहमिहिर नाम का भाई था। वह किसी कारण से ईर्ष्यावश होकर जैन साधुपन छोड़ दूसरे धर्म का अनुयायी हो गया था और ज्योतिष-शास्त्र द्वारा अपना महत्त्व लोगों को बतला कर जैन साधुओं की निन्दा किया करता था। एक बार एक राजा की सभा में भद्रबाहु ने उसकी ज्योतिषशास्त्र विषयक एक भूल बतलाई। इससे वह और भी अधिक जैन-धर्म का द्वेषी

***उवसग्ग-हरं पासं, पासं वंदामि कम्म-घण मुक्कं।**
विसहर-विस-निन्नासं, मंगल-कल्लाण-आवासं॥ १॥

अन्वयार्थ—"कम्म घण मुक्क" कर्मों के समूह से छूटे हुए "विसहर विस निन्नास" साँप के जहर का नाश करने वाले, "मंगल कल्लाणआवास" मंगल तथा आरोग्य के स्थान भूत [और] "उवसग्गहरपास" उपसर्गों को हरण करने वाले पार्श्व-नामक यक्ष के स्वामी [ऐसे] "पास" श्रीपार्श्वनाथ भगवान् को "वंदामि" वन्दन करता हू ॥१॥

भावार्थ—उपसर्गों को दूर करने वाला पार्श्व नामक यक्ष जिनका सेवक है, जो कर्मों की राशि से मुक्त है, जिनके स्मरण मात्र से विषैले साँप का जहर नष्ट हो जाता है और जो मंगल तथा कल्याण के आधार हैं ऐसे भगवान् श्री पार्श्वनाथ को मैं वन्दन करता हू। १॥

बन गया। अन्त में मर कर वह किसी हलकी योनि का देव हुआ और वहा पर पूर्व जन्म का स्मरण करने पर जैन-धर्म के ऊपर का उसका द्वेष फिर जागृत हो गया। इस द्वेष में अन्ध होकर उसने जैन-संघ में मारी फैलानी चाही। तब भद्रबाहु ने उस मारी के निवारणार्थ इस स्तोत्र की रचना कर सब जैनों को इसका पाठ करना बतलाया। इसके पाठ से वह उपद्रव दूर हो गया। आदि वाक्य इसका 'उवसग्गहर' होने से यह 'उपसर्ग हर स्तोत्र' कहलाता है।

* उपसर्ग-हरपार्श्वं पार्श्वं वन्दे कर्मघनमुक्तम्।
विषधरविषनिर्नाशं मङ्गलकल्याणावासम्॥ १॥

*** विसहरं-फुलिंग-मंतं, कंठे धारेइ जो सया मणुओ ।**
तस्स गह-रोग-मारी-दुट्ठ-जरा जंति उवसामं ।२॥

अन्वयार्थ—"जो" जो "मणुओ" मनुष्य "विसहर-फुलिंग-मंतं" विषधर स्फुलिङ्ग-नामक मन्त्र को "कंठे" कण्ठ में "सया" सदा "धारेइ" धारण करता है "तस्स" उसके "गह" ग्रह, "रोग" रोग, "मारी" हैजा और "दुट्ठजरा" दुष्ट-कुपितज्वर [आदि] "उवसामं" उपशान्ति "जंति" पाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य भगवान् के नाम-गर्भित "विषधर-स्फुलिङ्ग" मन्त्र को हमेशा कण्ठ में धारण करता है अर्थात् पढ़ता है उसके प्रतिकूल ग्रह' कष्ट साध्य रोग, भयङ्कर मारी और दुष्ट ज्वर ये सभी उपद्रव शान्त हो जाते हैं ॥२॥

† चिट्ठउ दूरे मंतो, तुज्झ पणामो वि बहुफलो होई ।
नर-तिरिएसु वि जीवा, पावंति न दुक्खदोगच्चं ॥३॥

अन्वयार्थ—'मंतो' मन्त्र 'दूरे' दूर 'चिट्ठउ' रहो, 'तुज्झ' तुझ को किया हुआ 'पणामोवि' प्रणाम भी 'बहुफलो' बहुत फल को देनेवाला 'होइ' होता है, (क्योंकि उससे) 'जीवा' जीव 'नरतिरि-

---

* विषधरस्फुलिंगमन्त्रं, कण्ठे धारयति यः सदा मनुजः ।
तस्य ग्रहरोगमारीदुष्टज्वरा यान्ति उपशामम् ॥ २ ॥

† तिष्ठतु दूरे मन्त्रः, तव प्रणामोपि बहुफलो भवति ।
नरतिरश्चोरपि जीवाः प्राप्नुवन्ति न दुःखदौर्गत्यम ॥ ३ ॥

एएु वि मनुष्य और तिर्यंच गति में भी 'दुक्खदोगच्च' दुःख दरि द्रता 'न पावंति' नहीं पावे हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे भगवन्! विषधरस्फुलिङ्ग मन्त्र की बात तो दूर रही, सिर्फ तुझको किया हुआ प्रणाम भी अनेक फलों को देता है, क्योंकि उससे मनुष्य तो क्या, तिर्यंच भी दुःख या दरिद्रता कुछ नहीं पाते ॥ ३ ॥

† तुह सम्मत्ते लद्धे, चिंतामणि-कप्पपायवब्भहिए।
पावंति अविग्घेणं, जीवा अयरामरं ठाणं ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ— 'चिंतामणिकप्पपायवब्भहिए' चिंतामणि और कल्पवृक्ष से भी अधिक (ऐसे) 'सम्मत्ते' सम्यक्त्व को 'तुह' तुझसे 'लद्धे' प्राप्त कर लेने पर 'जीवा' जीव 'अविग्घेण' बिना विघ्न के 'अयरामरं' जरा मरण रहित 'ठाणं' स्थान को 'पावंति' पाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—सम्यक्त्व गुण, चिन्तामणि-रत्न और कल्प वृक्ष से उत्तम है। हे भगवन्! उस गुण को तेरे आलम्बन से प्राप्त कर लेने पर जीव निर्विघ्नता से अजरामर पद को पाते हैं ॥४॥

* इअ संथुओ महायस! भत्तिब्भर निब्भरेण हिअएण।
ता देव! दिज्ज बोहिं, भवे भवे पास-जिणचन्द ॥

---

†तव सम्यक्त्वे लब्धे चिन्तामणिकल्पपादपाभ्यामधिके।
प्राप्नुवन्ति अविघ्नेन, जीवा अजरामर स्थानम् ॥ ४ ॥

* इति संस्तुतो महायशः! भक्तिभरनिर्भरेण हृदयेन।
तस्माद् देव! देहि बोधिं, भवे भवेपार्श्व जिनचन्द्र! ॥५॥

अन्वयार्थ—"महायस ! हे महायशस्विन् ! (मैंने) "इअ" इस प्रकार "भत्ति-ब्भर-निब्भरेण" भक्ति के आवेग से परिपूर्ण "हिअएण" हृदयसे "संथुओ" (तेरी) स्तुति की। "ता" इस लिये "पास-जिणचंद" हे पार्श्व जिनेश्वर "देव" देव ! "भवे भवे" हर एक भव में (मुझको) "बोहिं" सम्यक्त्व "दिज्ज" दीजिये।

भावार्थ—हे महायशस्विन् पार्श्वनाथ प्रभो ! इस प्रकार भक्तिपूर्ण हृदय से तेरी स्तुति कर मैं चाहता हूँ कि जन्म-जन्म में मुझको तेरी कृपा से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो ॥ ५ ॥

२०—जयवीयराय सूत्र † ।

---

† चैत्यवन्दन के अन्त में संक्षेप और विस्तार इस तरह दो प्रकार से प्रार्थना की जा सकती है। संक्षेप में करनी हो तो "दुक्खखओ कम्मखओ" यह एक ही गाथा पढ़नी चाहिये और विस्तार से करनी हो तो "जय वीयराय" आदि तीन गाथाएँ। यह बात श्रीवादि वेताल शान्तिसूरि ने अपने चैत्यवन्दन महा-भाष्य में लिखी है। किन्तु इसके प्राचीन समय में प्रार्थना सिर्फ दो गाथाओं से की जाती थी, क्योंकि श्री हरिभद्रसूरि ने चतुर्थ पञ्चाशक गा ३२-३४ में "जय वीयराय, लोगविरुद्धच्चाओ" इन दो गाथाओं से चैत्यवन्दन के अन्त में प्रार्थना करने की पूर्व-परम्परा बतलाई है।

* जय वीयराय! जगगुरु!, होउ मम तुह पभावओ भयवं!। भव-निव्वेओ मग्गा-णुसारिया इट्ठफल-सिद्धि॥ १॥
लोग-विरुद्ध-च्चाओ, गुरु-जण पूआ परत्थकरण च।
सुहगुरु जोगो तव्वयण-सेवणा आभवमखण्डा ॥२॥

अन्वयार्थ— "वीयराय" वीतराग! "जगगुरु" हे जगद्गुरो! "जय" [तेरी] जय हो। "भयव" हे भगवन! "तुह" तेरे "पभावओ" प्रभाव से "मम" मुझ को "भवनिव्वेओ" संसार से वैराग्य, "मग्गाणुसारिया" मार्गानुसारिपन, "इट्ठफल-सिद्धी" इष्ट फल की सिद्धि, "लोगविरुद्धच्चाओ" लोकविरुद्ध कृत्य का त्याग "गुरुजणपूआ" पूजनीय जनों की पूजा "परत्थकरण" परोपकार का करना, "सुहगुरुजोगो' पवित्र गुरु का सङ्ग, "च" और, "तव्वयणसेवणा" उनके वचन का पालन "आभव" जीवन-पर्यन्त "अखंडा" अखण्डित रूप से "होउ" हो॥ १—२॥

भावार्थ—हे वीतराग! हे जगद्गुरो! तेरी जय हो। संसार से वैराग्य, धर्म-मार्ग का अनुसरण, इष्ट फल की सिद्धि, लोक-विरुद्ध व्यवहार का त्याग, बड़ों के प्रति बहुमान परोपकार में प्रवृत्ति, श्रेष्ठ गुरु का समागम और उनके वचन का

---

* जय वीतराग! जगद्गुरो! भवतु मम तव प्रभावतो भगवन्
भवनिर्वेदो मार्गानुसारिता इष्टफलसिद्धिः॥ १॥
लोकविरुद्धत्यागो गुरुजनपूजा परार्थकरणं च।
शुभगुरुयोगस्तद्वचनसेवनाऽऽभवमखण्डा॥ २॥

अखण्डित आदर—ये सब बातें हे भगवन्! तेरे प्रभाव से मुझे जन्म-जन्म में मिलें॥ २-१॥

२१—आचार्य आदि को वन्दन।

आचार्य जी मिश्र, उपाध्यायजी मिश्र, जङ्गम युग-प्रधान भट्टारक (वर्तमान श्रीपूज्यजी का नाम लेकर) मिश्र, सर्व साधु मिश्र।

२२—सव्वस्सवि सूत्र।

❀ सव्वस्सवि देवसिअ दुच्चिंतिअ दुब्भासिअ दुच्चिट्ठिअ इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अन्वयार्थ— 'भगवन' हे महाराज! 'इच्छाकारेण' इच्छापूर्वक 'संदिसह' आज्ञा दीजिए (ताकि मैं दैवसिक पापों का मिथ्यादुष्कृत देऊँ)। 'इच्छं' आज्ञा प्रमाण है। 'देवसिय' दिवस-सम्बन्धी 'दुच्चिंतिअ' बुरे चिंतन दुब्भासिअ' बुरे भाषण और दुच्चिट्ठिअ' बुरी चेष्टा (जो की हो) 'तस्स सव्वस्सवि' उन सभों का 'दुकड' पाप 'मि' मेरे लिए 'मिच्छा' मिथ्या हो।

❀ सर्वस्याऽपि दैवसिकस्य दुश्चिन्तितस्य दुर्भाषितस्य दुश्चेष्टितस्य इच्छाकारेण संदिसह भगवन् इच्छामि तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

भरहेरवय-विदेहे धम्माइगरे नमंसामि ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—"जंबुद्दीवे" जम्बूद्वीप के "धायइसंडे" धातकी खण्ड के 'अ' तथा 'पुक्खरवरदीवड्ढे' अर्ध पुष्करवर द्वीप के 'भरहेरवयविदेहे' भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्र में 'धम्माइगरे' धर्म की आदि करने वालों को (मैं) 'नमंसामि' नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—जम्बू द्वीप धातकी खण्ड और अर्ध पुष्करवर द्वीप के भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्र में धर्म की प्रवृत्ति करने वाले तीर्थङ्करों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

[तीन गाथाओं से श्रुत की स्तुति]

† तम-तिमिर पडल विद्धंसणस्स सुर-गण नरिंद महियस्स
सीमाधरस्स वंदे, पप्फोडिअ-मोह-जालस्स ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—"तमतिमिरपडलविद्धंसणस्स" अज्ञान रूप अन्धकार के परदे का नाश करने वाले 'सुरगणनरिंदमहियस्स' देवगण और राजाओं के द्वारा पूजित, 'सीमाधरस्स' मर्यादा को धारण करने वाले और 'पप्फोडिअ-मोह-जालस्स' मोह के जाल को तोड़ देने वाले (श्रुत को) 'वंदे' मैं वन्दन करता हूँ ॥ २ ॥

---

† तमस्तिमिरपटलविध्वंसनस्य सुरगणनरेन्द्रमहितस्य ।
सीमाधरस्य वन्दे प्रस्फोटितमोहजालस्य ॥ २ ॥

* जाई-जरा-मरण-सोग-पणासणस्स ।
कल्लाण-पुक्खल-विसाल-सुहावहस्स ॥
को देव-दाणव-नरिंद-गणच्चियस्स ।
धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ? ॥३॥

अन्वयार्थ—'जाईजरामरणसोगपणासणस्स' जन्म, जरा, मरण और शोक को मिटाने वाले 'कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स' कल्याणकारी और परम उदार सुख अर्थात् मोक्ष को देने वाले 'देवदाणवनरिंदगणच्चिअस्स' देवगण, दानवगण और नरपतिगण के द्वारा पूजित, (ऐसे 'धम्मस्स' धर्म के 'सारं' सार को 'उवलब्भ' पा कर "पमायं" प्रमाद "को" कौन "करे" करेगा ? ॥ ३ ॥

† सिद्धे भो ! पयओ णमो जिणमए नंदी सया संजमे ।
देवंनागसुवन्नकिन्नरगणस्सब्भूअभावच्चिए ।
लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलुक्कमच्चासुरं ।
धम्मो वड्ढउ सासिओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ ॥ ४ ॥

---

* जातिजरामरणशोकप्रणाशनस्य ।
कल्याणपुष्कलविशालसुखावहस्य ॥
को देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्य ।
धर्मस्य सारमुपलभ्य कुर्यात् प्रमादम् ? ॥३॥

† सिद्धाय भोः ! प्रयतो नमो जिनमताय नन्दिः सदा संयमे ।

अन्वयार्थ—'भो' हे भव्यों! (मैं) 'पयओ' बहुमान-युक्त हो कर "सिद्धे" प्रमाण-भूत "जिणमए" जिनमत-जिन-सिद्धान्त को 'णमो' नमस्कार करता हूँ (जिस सिद्धान्त से) "देवं नाग-सुवन्न-किन्नरगण" देवों, नागकुमारों*, सुवर्णकुमारों† और किन्नरों‡ के समूह द्वारा "स्सब्भूअभावच्चिए" शुद्ध-भाव-पूर्वक अर्चित (ऐसा) 'संजमे' संयम में 'सया' सदा 'नंदी' वृद्धि होती है (तथा) 'जत्थ' जिस सिद्धान्त में 'लोग' ज्ञान (और) 'तेल्लुक्कमच्चासुर' मनुष्य-असुरादि तीन लोकरूप 'इणं' यह 'जगं' जगत् 'पइट्ठिओ' प्रतिष्ठित है, वह 'सासओ' शाश्वत 'धम्मो' धर्म-श्रुतधर्म 'विजयओ' विजय-प्राप्ति-द्वारा 'वड्ढउ' वृद्धि प्राप्त करे (और इससे) 'धम्मुत्तरं' चारित्र-धर्म भी "वड्ढउ" वृद्धि प्राप्त करे ॥ ४ ॥

देवनागसुवर्णकिन्नरगणसद्भूतभावार्चिते ॥
लोको यत्र प्रतिष्ठितो जगदिदं त्रैलोक्यमर्त्यासुरं ।
धर्मो वर्धतां शाश्वतो विजयतो धर्मोत्तरं वर्धताम् ॥ ४ ॥

* ये भवनपति निकाय के देव-विशेष हैं। इनके गहनों में साँप का चिन्ह है और वर्ण इनका सफेद है।

† ये भी भवनपति जाति के देव हैं। इनके गहनों में गरुड़ का चिन्ह और वर्ण इनका सुवर्ण की तरह गौर है। (बृहत्संग्रहणी गा० ४२–४४)।

‡ ये व्यन्तर जाति के देव हैं। चिन्ह इनका अशोक वृक्ष है जो ध्वज में होता है। वर्ण प्रियङ्गु वृक्ष के समान है। [बृहत्संग्रहणी गा० ५८, ६१–६२]।

भावार्थ—मैं श्रुत-धर्म को वन्दन करता हूँ, क्योंकि यह अज्ञानरूप अन्धकार को नष्ट करता है, इसको पूजा नृपगण तथा देवगण तक ने की है, यह सबको मर्यादा में रखता है और इसने आश्रितों के मोह-जाल को तोड़ दिया है ॥ २ ॥

जो जन्म, जरा, मरण और शोक का नाश करने वाला है जिसके आलम्बन से मोक्ष का अपरिमित सुख प्राप्त किया जा सकता है, और देवों, दानवों तथा नरपतिओं ने जिसकी पूजा की है ऐसे श्रुतधर्म को पाकर कौन बुद्धिमान् गाफिल रहेगा ? कोई भी नहीं ॥ ३ ॥

जिसका बहुमान किन्नरों, नागकुमारों, सुवर्णकुमारों और देवों तक ने यथार्थ भक्ति पूर्वक किया है, ऐसे संयम की वृद्धि जिन-कथित सिद्धान्त से ही होती है। सब प्रकार का ज्ञान भी जिनोक्त सिद्धान्त में ही निःसन्देह रीति से वर्तमान है। जगत् के मनुष्य, असुर आदि सब प्राणिगण जिनोक्त सिद्धान्त में ही प्रमाण-पूर्वक वर्णित है। हे भव्यो ! ऐसे नय-प्रमाण-सिद्ध जैन सिद्धान्त को मैं आदर-सहित नमस्कार करता हूं। वह शाश्वत सिद्धान्त उन्नत होकर एकान्तवाद पर विजय प्राप्त करे, और इसके चारित्र-धर्म की भी वृद्धि हो।

+ सुअस्स भवगओ करेमि काउस्सग्गं वंदण वत्तियाए।

अर्थ—मैं श्रुत-धर्म के वन्दन आदि निमित्त कायोत्सर्ग करता हूं।

+श्रुतस्य भगवतः करोमि कायोत्सर्गं वन्दन प्रत्ययम्

२६—सिद्धाणं बुद्धाण✻ सूत्र।

(सिद्ध की स्तुति)

† सिद्धाणं बुद्धाणं, पारगयाण परंपरगयाण
लोअग्गमुवगयाण, नमो सया सव्वसिद्धाण ।१।

अन्वयार्थ—'सिद्धाण' सिद्धि पाये हुए 'बुद्धाण बोध पाये हुए 'पारगयाण पार पहुँचे हुए 'परपरगयाण परम्परा से गुण स्थानों के क्रम से सिद्ध पद तक पहुँचे हुए 'लोअग्गं' लोक के अग्र भाग पर 'उवगयाण' पहुँचे 'सव्वसिद्धाण' सब सिद्ध जीवों को 'सया' सदा 'नमो' नमस्कार हो ॥ १ ॥

भावार्थ—जो सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, पारगत हैं, क्रमिक आत्म विकास द्वारा मुक्ति पद पर्यन्त पहुचे हुए हैं और लोक के ऊपर के भाग में स्थित हैं उन सब मुक्त जीवों को सदा मेरा नमस्कार हो ॥ १ ॥

✻—इस सूत्र की पहली तीन ही स्तुतियों की व्याख्या श्री हरिभद्रसूरि ने की है, पिछली दो स्तुतियों की नहीं। इसका कारण उन्होंने यह बतलाया है कि "पहली तीन स्तुतियाँ नियम-पूर्वक पढ़ी जाती हैं, पर पिछली स्तुतियाँ नियम-पूर्वक नहीं पढी जातीं। इसलिये इनका व्याख्यान नहीं किया जाता" (आवश्यक टीका पत्र ७९०, ललितविस्तरा पृ० ११२)।

† सिद्धेभ्यो बुद्धेभ्यः पारगतेभ्यः परम्परागतेभ्य ।
लोकाग्रमुपगतेभ्यो, नमः सदा सर्वसिद्धेभ्य ॥१॥

(महावीर भगवान् की स्तुति)

* जो देवाणवि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति।
तं देवदेव-महिअं, सिरसा वन्दे महावीरं । २ ॥

अन्वयार्थ—'जो' जो 'देवाणवि' देवों का भी 'देवो' देव है और 'ज' जिसको "पंजली" हाथ जोड़े हुए "देवा" देव "नमंसति" नमस्कार करते हैं "देवदेवमहिअं" देवों के देव इन्द्र द्वारा पूजित (ऐसे "तं" उस "महावीर" महावीर को "सिरसा" सिर झुका कर 'वंदे' वन्दन करता हूं ॥ २ ॥

† इक्कोवि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स।
संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—'जिण वर वसहस्स' जिनों में प्रधान भूत 'वद्धमाणस्स' श्रीवर्धमान को (किया हुआ) 'इक्कोवि' एक भी 'नमुक्कारो' नमस्कार 'नरं' पुरुष को 'वा' अथवा 'नारिं' स्त्री को 'संसारसागराओ' संसार रूप समुद्र से 'तारेइ तार देता है ॥ ३ ॥

---

* यो देवानामपि देवो यं देवाः प्राञ्जलयो नमस्यन्ति ।
तं देवदेव-महितं शिरसा वन्दे महावीरम् ॥ २ ॥

† एकोऽपि नमस्कारो जिनवरवृषभस्य वर्द्धमानस्य ।
संसारसागरात्तारयति नरं वा नारीं वा ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो देवों का देव है, देवगण भी जिसको हाथ जोड़ कर आदर पूर्वक नमन करते हैं और जिसकी पूजा इन्द्र तक करते हैं उस देवाधिदेव महावीर को सिर झुका कर मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

जो कोई व्यक्ति चाहे वह पुरुष हो या स्त्री भगवान् महावीर को एक बार भी भाव पूर्वक नमस्कार करता है वह संसार रूप अपार समुद्र को तर कर परम पद को पाता है ॥ ३ ॥

[श्री अरिष्टनेमि की स्तुति]

* उज्जितसेलसिहरे, दिक्खा नाणं निसीहिआजस्स ।
तं धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—'उज्जितसेलसिहरे' उज्जयंत-गिरनार पर्वत के शिखर पर 'जस्स' जिसकी 'दिक्खा' दीक्षा 'नाणं' केवल ज्ञान [और] 'निसीहिआ' मोक्ष हुए हैं 'तं' उस 'धम्म-चक्कवट्टिं' धर्म-चक्रवर्त्ती अरिट्ठनेमिं' श्रीअरिष्टनेमि को 'नमंसामि' नमस्कार करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिसके दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष ये तीन कल्याणक गिरिनार पर्वत पर हुए हैं, जो धर्मचक्र का प्रवर्त्तक है उस श्री नेमिनाथ भगवान् को मैं नमस्कार करता हूं ॥ ४ ॥

---

* उज्जयन्तशैलशिखरे दीक्षा ज्ञानं नैषेधिकी यस्य ।
तं धर्मचक्रवर्त्तिनमरिष्टनेमिं नमस्यामि ॥ ४ ॥

[२४ तीर्थङ्करों की स्तुति]

× चत्तारि अट्ठ दस दो, य वंदिया जिणवरा चउव्वीसं।
परमट्ठनिट्ठिअट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ।५।

अन्वयार्थ—'चत्तारि' चार 'अट्ठ' आठ 'दस' दस 'य' और 'दो' दो (कुल) 'चउव्वीसं' चौबीस 'जिणवरा' जिनेश्वर (जो) 'वंदिआ' वन्दित है, 'परमट्ठनिट्ठिअट्ठा' परमार्थ से कृतकृत्य हैं (और) 'सिद्धा' सिद्ध हैं वे 'मम' मुझको 'सिद्धि' मुक्ति 'दिसंतु' देवें ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिन्होंने परम पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्त किया है और इससे जिनको कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं है वे चौबीस जिनेश्वर मुझको सिद्धि प्राप्त करने में सहायक हो।

इस गाथा में चार, आठ, दस, दो इस क्रम से कुल चौबीस की संख्या बतलाई है, इसका अभिप्राय यह है कि अष्टापद पर्वत पर चार दिशाओं में उसी क्रम से चौबीस प्रतिमाएँ विराजमान हैं ॥ ५ ॥

२७—वेयावच्चगराणं सूत्र।

* वेयावच्च-गराणं संति-गराणं सम्मद्दिट्ठिसमाहिगराण करेमि काउस्सग्गं। अन्नत्थ० ॥

× चत्वारोऽष्ट दश द्वौ च वन्दिता जिनवराश्चतुर्विंशातिः।
परमार्थनिष्ठितार्थाः सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु ॥ ५ ॥

* वैयावृत्यकराणां शान्तिकराणां सम्यग्दृष्टिसमाधिकराणां करोमि कायोत्सर्गम् ॥

अन्वयार्थ—"वेयावच्चगराणं" वैयावृत्य करने वाले, "सतिगराण" शान्ति करने वाले (और) "सम्मद्दिट्ठिसमाहिगराण" सम्यग्दृष्टि जीवों को समाधि पहुँचाने वाले (ऐसे देवों की आराधना के निमित्त) "काउस्सग्ग" कायोत्सर्ग "करेमि" करता हू ।

भावार्थ—जो देव, शासन की सेवा शुश्रूषा करने वाले हैं, जो सब जगह शान्ति फैलाने वाले हैं और जो सम्यक्त्वी जीवों को समाधि पहुँचाने वाले हैं उनकी आराधना के लिये मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

* २८—सुगुरु-वन्दन सूत्र

*—आचार्य उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, और रत्नाधिक-पर्यायज्येष्ठ—(आवश्यकनिर्युक्ति गा० ११९५) ये पाँच सुगुरु हैं। इनको वन्दन करने के समय यह सूत्र पढ़ा जाता है, इसलिये इसको 'सुगुरु-वन्दन' कहते हैं । इसके द्वारा जो वन्दन किया जाता है वह उत्कृष्ट द्वादशावर्त-वन्दन है । खमासमणसूत्र-द्वारा जो वन्दन किया जाता है वह मध्यम—थोभ वन्दन कहा जाता है । थोभ वन्दन का निर्देश आवश्यकनिर्युक्ति गा० ११२७ में है । सिर्फ मस्तक नमा कर जो वन्दन किया जाता है वह जघन्य फिट्टा-वन्दन है । ये तीनों वन्दन गुरु वन्दन भाष्य में निर्दिष्ट हैं।

सुगुरु वन्दन के समय २५ आवश्यक (विधान) रखने चाहिएँ, जिनके न रखने से वन्दन निष्फल हो जाता है, वे इस प्रकार हैं —

† इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए। अणुजाणह मे मिउग्गहं। निसीहि अहोकायं कायसंफासं। खमणिज्जो भे किलामो। अप्प-किलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो? जत्ता भे? जवणिज्जं च भे?

"इच्छामि खमाससणो" से 'अणुजाणह' तक बोलने में दोनों बार आधा अङ्ग नमाना यह दो अवनत, जनमते समय बालक की या दीक्षा लेने के समय शिष्य की जैसी मुद्रा होती है वैसी अर्थात् कपाल पर दो हाथ रख कर नम्र मुद्रा करना—यह यथा-जात. 'अहोकायं' 'कायसंफासं', 'खमणिज्जो भे किलामो', 'अप्प-किलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो? जत्ता भे? जवणिज्जं च भे? इस क्रमसे छह छह आवर्त्त करनेसे दोनों वन्दनमें बारह आवर्त्त (गुरु के पैर पर हाथ रख कर फिर सिर से लगाना यह आवर्त्त कहलाता है) अवग्रह में प्रविष्ट होने के बाद खामणा करने के समय शिष्य तथा आचार्य के मिलाकर दो शिरोनमन, इस प्रकार दूसरे वन्दन में दो शिरोनमन कुल चार शिरोनमन, वन्दन करने के समय मन, वचन और शरीर को अशुभ व्यापार से रोकने रूप तीन गुप्तियां 'अणुजाणह मे मिउग्गहं' कह कर गुरु से आज्ञा पाने के बाद अवग्रह में दोनों बार प्रवेश करना यह दो प्रवेश, पहला वन्दन कर के "आवस्सिआए" यह कर अवग्रह से बाहर निकल जाना यह निस्क्रमण। कुल २५। आवश्यक निर्युक्ति गा० १२०२-४।

---

† इच्छामि क्षमाश्रमण! वन्दितुं यापनीयया नैषेधिक्या। अनुजानीत मे मितावग्रहं। निषिध्य (नैषेधिक्या प्रविश्य)

*खामेमि खमासमणो ! देवसिअं वइक्कमं। आवस्सिआए पडिक्कमामि। खमासमणाणं देवसिआए आसायणाए तित्तीसन्नयराए जं किंचि मिच्छाए मण-दुक्कडाए वय-दुक्कडाए काय-दुक्कडाए कोहाए माणाए मायाए लोभाए सव्व-कालियाए सव्वमिच्छोवयाराए सव्व-धम्माइक्कमणाए आसायणाए जो मे अइयारो कओ तस्स खमासमणो ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

अन्वयार्थ—'खमासमणो' हे क्षमाश्रमण ! 'निसीहिआए' शरीर को पाप क्रिया से हटा कर [मैं] 'जावणिज्जाए' शक्ति के अनुसार 'वंदिउं' वन्दन करना "इच्छामि" चाहता हूं। (इस लिए) 'मे' मुझको 'मिउग्गहं' परिमित अवग्रह की

अध:काय कायसंस्पर्शं (करोमि) । भवद्भिः क्लम । अल्पक्लान्तानां बहुशुभेन भवतां दिवसो व्यतिक्रान्त ? यात्रा भवताम् ? यापनीय च भवताम् ?

* क्षमयामि क्षमाश्रमण ! दैवसिकं व्यतिक्रमम् । आवश्यक्याः प्रतिक्रामामि । क्षमाश्रमणानां दैवसिक्या आशातनया त्रयस्त्रिंशदन्यतरया यत्किंचिन्मिथ्याभूतया मनोदुष्कृतया वचोदुष्कृतया कायदुष्कृतया क्रोधया (क्रोधयुक्तया) मानया मायया लोभया सर्वकालिक्या सर्वमिथ्योपचारया सर्वधर्मातिक्रमणया आशातनया यो मया अतिचारः कृत तस्य क्षमाश्रमण ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

'अणुजाणह' आज्ञा दीजिये। 'निसीहि' पाप-क्रिया को रोक कर के 'अहोकायं' (आपके) चरण का 'कायसंफासं' अपनी काया से—उत्तमाङ्ग से स्पर्श (करता हूं)। (मेरे छूने से) 'भे' आपको 'किलामो' बाधा हुई [वह] 'खमणिज्जा क्षमा के योग्य है। 'भे' आपने 'अप्पकिलंताणं अल्प ग्लान अवस्था में रह कर 'दिवसो' दिवस 'बहुसुभेण' बहुत आराम से "वइक्कंतो" बिताया? "भे" आपकी 'जत्ता' संयम रूप यात्रा [निर्बाध है?] 'च' और 'भे' आपका शरीर 'जवणिज्जं' मन तथा इन्द्रियों की पीड़ा से रहित है?

'खमासमणो' हे क्षमाश्रमण! 'देवसिअं' दिवस सम्बन्धी "वइक्कमं" अपराध को "खामेमि" खमाता हूँ (और) "आवस्सिआए" आवश्यक क्रिया करने में जो विपरीत अनुष्ठान हुआ उससे "पडिक्कमामि" निवृत्त होता हूं। "खमासमणाणं" आप क्षमाश्रमण की "देवसिआए" दिवससम्बन्धिनी 'तित्तीसन्नयराए' तेतीस में से किसी भी "आसायणाए" आशातना के द्वारा (और) "जं किंचि मिच्छाए" जिस किसी मिथ्याभाव से की हुई 'मणदुक्कडाए' दुष्ट मन से की हुई 'वयदुक्कडाए' दुर्वचन से की हुई "कायदुक्कडाए" शरीर की दुष्ट चेष्टा से की हुई "कोहाए" क्रोध से की हुई "माणाए" मान से की हुई "मायाए" माया से की हुई "लोभाए" लोभ से की हुई "सव्वकालिआए" सर्वकाल-सम्बन्धिनी सव्वमिच्छोवयाराए" सब प्रकार के मिथ्य उपचारों से पूर्ण "सव्वधम्माइक्कमणाए" सब प्रकार के धर्म का उल्लङ्घन करने वाली "आसायणाए" आशातना के द्वारा "मे" मैंने "जो" "अइआरो" अतिचार "कओ" किया, "खमासमणो" हे क्षमाश्रमण! "तस्स" उससे "पडिक्कमामि" निवृत्त होता हूं, "निंदा·

मि" उसकी निन्दा करता हूँ, "गरिहामि" विशेष निन्दा करता हू (और अब) "अप्पाणं" आत्मा को "वोसिरामि" पाप व्यापारों से हटा लेता हूँ।

भावार्थ—हे क्षमाश्रमण गुरो ! मैं शरीर को पाप प्रवृत्ति से अलग कर यथाशक्ति आपको वन्दन करना चाहता हूँ। (इस प्रकार शिष्य के पूछने पर यदि गुरु अस्वस्थ हों तो 'त्रि-विधेन' ऐसा शब्द कहते हैं जिसका मतलब संक्षिप्त रूप से वन्दन करने की आज्ञा समझी जाती है। जब गुरु की ऐसी इच्छा मालूम दे तब तो शिष्य संक्षेप से ही वन्दन कर लेता है। परन्तु यदि गुरु स्वस्थ हों तो छंदसा' शब्द कहते हैं जिसका मतलब इच्छानुसार वन्दन करने की सम्मति देना माना जाता है। तब शिष्य प्रार्थना करता है कि मुझको अवग्रह में-आप के चारों ओर शरीर प्रमाण क्षेत्र में-प्रवेश करने की आज्ञा दीजिये। ('अणुजाणामि' कह कर गुरु आज्ञा देवें तब शिष्य 'निसीहि' कहता है अर्थात् वह कहता है कि) मैं 'अन्य' व्यापार को छोड़ अवग्रह में प्रवेश कर विधिपूर्वक बैठता हूँ। [फिर वह गुरु से कहता है कि आप मुझको आज्ञा दिजिये कि] मैं अपने मस्तक से आपके चरण का स्पर्श करू ! स्पर्श करने में मुझ से आपको कुछ बाधा हुई उसे क्षमा कीजिये। क्या आपने अल्प ग्लान अवस्था में रह कर अपना दिन बहुत कुशल पूर्वक व्यतीत किया ? (उक्त प्रश्न का उत्तर गुरु 'तथा' कह कर देते हैं, फिर शिष्य पूछता है कि) आप की तप संयम यात्रा निर्बाध है ? (उत्तर में गुरु 'तुब्भपि वट्टइ ?' कह कर शिष्य से उसकी संयम-यात्रा की निर्विघ्नता का प्रश्न करते हैं। शिष्य फिर गुरु से पूछता है कि) क्या आप का शरीर सब विकारों से रहित और शक्तिशाली है ? (उत्तर में गुरु 'एवं' कहते हैं)

(अब यहाँ से आगे शिष्य अपने किये हुए अपराध की क्षमा माँग कर अतिचार का प्रतिक्रमण करता हुआ कहता है कि) हे क्षमाश्रमण गुरो! मुझ से दिन में या रात में आपका जो कुछ भी अपराध हुआ हो उसकी मैं क्षमा चाहता हूं। [इसके बाद गुरु भी शिष्य से अपने प्रमादजन्य अपराध की क्षमा माँगते हैं। फिर शिष्य प्रणाम कर अवग्रह से बाहर निकल आता है, बाहर निकलता हुआ यथास्थित भाव को क्रिया द्वारा प्रकाशित करता हुआ वह 'आवस्सिआए' इत्यादि पाठ कहता है।] आवश्यक क्रिया करने में मुझ से जो अयोग्य विधान हुआ हो उसको मैं प्रतिक्रमण करता हूं। [सामान्यरूप से इतना कह कर फिर विशेष रूप से प्रतिक्रमण के लिये शिष्य कहता है कि] हे क्षमाश्रमण गुरो! आप की तेतीस में से किसी भी दैवसिक या रात्रिक आशातना❀ के द्वारा मैंने जो अतिचार-सेवन किया उसका प्रतिक्रमण करता हूं; तथा किसी मिथ्याभाव से होने वाली, द्वेष जन्य, दुर्भाषण-जन्य, लोभ जन्य, सर्व काल-सम्बन्धिनी, सब प्रकार के मिथ्या व्यवहारों से होने वाली और सब प्रकार के धर्म के अतिक्रमण से होने वाली आशातना के द्वारा मैंने अतिचार सेवन किया उसका भी प्रतिक्रमण करता हूं अर्थात् फिर से ऐसा न करने का निश्चय करता हूं, उस दूषण की निन्दा करता हूँ, आप गुरु के समीप उसकी गर्हा करता हूँ और ऐसे पाप व्यापार से आत्मा को हटा लेता हूं॥ २८॥

[इस सूत्रको दुबारा पढ़ते समय 'आवस्सिआए' पद नहीं कहना। रात्रिक प्रतिक्रमण में 'राई वइक्कंता', पाक्षिक प्रतिक्रमण

❀-ये आशातनाएँ आवश्यक सूत्र पत्र ७२७ और समवायांग सूत्र पत्र ५८ में वर्णित हैं।

में पक्खो वइक्कतो', चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में 'चउम्मासी वइक्कन्ता' और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में 'संवच्छरो वइक्कतो' ऐसा पाठ पढना।]

२९—देवसिअं आलोउं सूत्र।

† इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! देवसिअ आलोउं। इच्छं। आलोएमि जो मे०।

भावार्थ—हे भगवन् ! दिवस सम्बन्धी आलोचना करने के लिये आप मुझको इच्छा पूर्वक आज्ञा दीजिये। (आज्ञा मिलने पर) 'इच्छं' उसको मैं स्वीकार करता हूँ। बाद 'जो मे' इत्यादि पाठ का अर्थ पूर्ववत् जानना।

३०—आलोयण।

आजुणा चार प्रहर दिवस में मैंने जिन जीवोंकी विराधना की होय। सात लाख पृथ्वीकाय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेउकाय, सात लाख वाउ काय, दस लाख प्रत्येक-वनस्पतिकाय, चौदह लाख साधारण-वनस्पतिकाय, दो लाख दो इन्द्रिय वाले, दो लाख तीन इन्द्रिय वाले, दो लाख चार इन्द्रिय वाले, चार लाख देवता, चार लाख नारक,चार लाख तिर्यञ्च

† इच्छाकारेण संदिशथ भगवन् ! दैवसिकं आलोचयितुम्। इच्छामि। आलोचयामि यो मम०।

पञ्चेन्द्रिय, चौदह लाख मनुष्य। कुल चौरासी लाख *जीवयोनियों में से किसी जीव का मैंने हनन किया वह सब मन, वचन, काया करके मिच्छा मि दुक्कडं ३०

३१--अठारह पापस्थानक आलोउं।

पहला प्राणातिपात, दूसरा मृषावाद. तीसरा अदत्तादान, चौथा मैथुन, पांचवाँ परिग्रह, छठा क्रोध, सातवां मान, आठवां माया, नवत्रां लोभ दशवां राग, ग्यारहवाँ द्वेष, बारहवाँ कलह, तेरहवाँ अभ्याख्यान, चौदहवाँ पैशुन्य, पन्द्रहवाँ रति-अरति, सोलहवाँ पर-परिवाद, सत्रहवाँ माया-मृषावाद, अठारहवाँ मिथ्यात्व-शल्य; इन पापस्थानों में से किसीका मैंने सेवन किया, कराया या करते हुए का अनुमोदन किया, वह सब मिच्छा मि दुक्कडं।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, पाटी, पोथी, ठवणी, कवली, नवकरवाली, देव-गुरु-धर्म की आशातना की हो; पन्नरह कर्मादानों की आसेवना की हो; राज-

---

* योनि उत्पत्ति स्थान को कहते हैं। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की समानता होने से अनेक उत्पत्ति स्थानों को भी एक योनि कहते हैं।

कथा, देश-कथा, स्त्री कथा, भक्त-कथा की हो, और जो कोई पर निंदादि पाप किया हो, कराया हो, करते हुए का अनुमोदन किया हो, सो सब मन, वचन, काया करके, रात्रि अतिचार आलोयण करके, पडिक्कमण में आलोउं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥ ३१ ॥

३२—वंदित्तु—श्रावक का प्रतिक्रमण सूत्र ।

❀ वंदित्तु सव्वसिद्धे, धम्मायरिए अ सव्वसाहू अ ।
इच्छामि पडिक्कमिउं, सावगधम्माइ आरस्स† ॥ १ ॥

❀ वन्दित्वा सर्वसिद्धान्, धर्माचार्यांश्च सर्वसाधूंश्च ।
इच्छामि प्रतिक्रमितुं, श्रावकधर्मातिचारस्य ॥ १ ॥

† गुण प्रकट होने पर उसमें आने वाली मलिनता को अतिचार कहते हैं। अतिचार और भङ्ग में यही अन्तर है कि प्रकट हुए गुण के लोप को-सर्वथा तिरोभाव को-भङ्ग कहते हैं और उसके अल्प तिरोभाव को अतिचार कहते हैं। शास्त्र में भङ्ग को 'सर्वविराधना' और अतिचार को 'देश-विराधना' कहा है। अतिचार का कारण कषाय का उदय है। कषाय का कारण कषाय का उदय है। कषाय तीव्र-मन्दादि अनेक प्रकार का होता है। तीव्र उदय के समय गुण प्रकट ही नहीं होता, मन्द उदय के समय गुण प्रकट तो होता है किन्तु बीच २ में कभी २ उसमें मालिन्य हो जाता है। इसीसे शास्त्र में काषा

अन्वयार्थ— 'सव्वसिद्धे' सब सिद्धों को 'अ' और 'धम्मायरिए' धर्माचार्यों को 'अ' और 'सव्वसाहू' सब साधुओं को 'वंदित्तु' वन्दन करके 'सावगधम्माइआरस्स' श्रावक धर्म-सम्बन्धी अतिचार से 'पडिक्कमिउं' निवृत्त होना 'इच्छामि' चाहता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ— सब सिद्धों को धर्माचार्यों को और साधुओं को वन्दन करके श्रावक धर्म-सम्बन्धी अतिचारों का मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूं ॥ १ ॥

यिक शक्ति को विचित्र कहा है। उदाहरणार्थ—अनन्तानुबन्धिकषाय का उदय सम्यक्त्व को प्रकट होने से रोकता है और कभी उसे न रोक कर उसमें मालिन्य मात्र पैदा करता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानीवरण कषाय देश विरति को प्रकट होने से रोकता भी है और कदाचित् उसे न रोक कर उसमें मालिन्य मात्र पैदा करता है। [पञ्चाशक टीका, पृ० ६]। इस तरह विचारने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि व्यक्त गुण की मलिनता या उसके कारणभूत कषायोदय को ही अतिचार कहना चाहिए। तथापि शङ्का काङ्क्षा आदि या वध-बन्ध आदि बाह्य प्रवृत्तिओं को अतिचार कहा जाता है, सो परम्परा से; क्योंकि ऐसी प्रवृत्तिओं का कारण, कषाय का उदय ही है। तथाविध कषाय का उदय होने ही से शङ्का आदि में प्रवृत्ति या वध, बन्ध आदि कार्य में प्रवृत्ति होती देखी जाती है।

[सामान्य व्रतातिचार की आलोचना]

* जो मे वयाइआरो, नाणे तह दंसणे चरित्ते अ।
सुहुमो अ बायरो वा, तं निंदे तं च गरिहामि ॥२॥

अन्वयार्थ—'नाणे' ज्ञान के विषय में 'दसण' दर्शन के विषय में 'चरित्ते' चारित्र के विषय में 'तह' तथा 'अ' तप, वीर्य आदि के विषय में 'सुहुमो' सूक्ष्म 'व' अथवा बायरो बादर—स्थूल "जो" जो "वयाइआरो" व्रतातिचार "मे" मुझको [लगा] "तं" उसकी "निंदे" निन्दा करता हू 'च' और 'तं' उसकी 'गरिहामि' गर्हा करता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—इस गाथा में, समुच्चय रूप से ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप आदि के अतिचारों की, जिनका वर्णन आगे किया गया है, आलोचना की गई है ॥ २ ॥

† दुविहे परिग्गहम्मि, सावज्जे बहुविहे अ आरंभे।
कारावणे अ करणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥३॥

अन्वयार्थ—'दुविहे' दो तरह के 'परिग्गहम्मि' परिग्रह के लिये 'सावज्जे' पाप वाले 'बहुविहे' अनेक प्रकार के 'आरम्भे' आरम्भों को 'कारावणे' कराने में 'अ' और करणे' करने में

---

* यो मे व्रतातिचारो, ज्ञाने तथा दर्शने चारित्रे च।
सूक्ष्मो वा बादरो वा, तं निन्दामि तं च गर्हे ॥ २ ॥

† द्विविधे परिग्रहे, सावद्ये बहुविधे चाऽऽरम्भे।
कारणे च करणे, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥ ३ ॥

[दूषण लगा] 'सव्वं' उस सब देसिअं' दिवस सम्बन्धी [दूषण] से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ— सचित्त [सजीव वस्तु] का संग्रह और अचित्त [अजीव वस्तु] का संग्रह ऐसे जो दो प्रकार के परिग्रह हैं, उनके निमित्त सावद्य आरम्भ वाली—प्रवृत्ति की गई हो, इस गाथा में उसकी समुच्चयरूप से आलोचना है ॥ ३ ॥

❀ जं बद्धमिंदिएहिं, चउहिं कसाएहिं अप्पसत्थेहिं।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ— 'अप्पसत्थेहिं' अप्रशस्त 'चउहिं' चार 'कसाएहिं' कषायों से 'व' अर्थात् 'रागेण' राग से 'व' या 'दोसेण' दोष से "इन्दिएहि" इन्द्रियों के द्वारा "जं" जो [पाप] "बद्धं" बाँधा 'तं' उसकी 'निंदे' निन्दा करता हूं, 'च' और 'त' उसको 'गरिहामि' गर्हा करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ— क्रोध, मान, माया और लोभ स्वरूप जो चार अप्रशस्त (तीव्र) कषाय हैं. उनके अर्थात् राग और द्वेष के वश होकर अथवा इन्द्रियों के बिकारों के वश होकर जो पाप का बन्ध किया जाता है, उसकी इस गाथा में आलोचना की गई है ॥४॥

❀ यद्बद्धमिन्द्रियैः, चतुर्भिः कषायैरप्रशस्तैः ।
रागेण वा द्वेषेण वा, तन्निन्दामि तच्च गर्हे ॥ ४ ॥

† आगमणे निग्गमणे, ठाणे चंकमणे [य] अणाभोगे।
अभिओगे अ निओगे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥५॥

अन्वयार्थ—"अणाभोगे" अनुपयोग से "अभिओगे" दबाव से "अ" और निओगे" नियोग से "आगमणे" आने में "निग्गमणे" जाने में "ठाणे" ठहरने में "चंकमणे" घूमने में जो "देसिअं" दैनिक [दूषण लगा] 'सव्वं' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥५॥

भावार्थ—उपयोग न रहने के कारण, या राजा आदि किसी बडे पुरुष के दबाव के कारण, या नौकरी आदि की पराधीनता के कारण मिथ्यात्व पोषक स्थान में आने जाने से अथवा उसमें ठहरने घूमने से सम्यग्दर्शन में जो कोई दूषण लगता है उसकी इस गाथा में आलोचना की गई है ।५॥

(सम्यक्त्व के अतिचारों की आलोचना)

‡ संका कंख विगिच्छा, पसंस तह संथवो कुलिंगीसु।
सम्मत्तस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ ६ ॥ ※

---

†आगमने निर्गमने, स्थाने चङ्क्रमणेऽनाभोगे।
अभियोगे च नियोगे, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥५॥

‡ शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा,प्रशंसा तथा संस्तवः कुलिङ्गिषु।
सम्यक्त्वस्यातिचारान्, प्रतिक्रमामि दैवसिकं सर्वम् ॥६॥

※ सम्यक्त्वातथा बारह व्रत आदि के जो अतिचार इस जगह गाथाओं में हैं वे ही आवश्यक,उपासकदशा और तत्त्वार्थ

अन्वयार्थ—"संका" शङ्का "कंख" काङ्क्षा "विगिच्छा" फल में सन्देह "पसंस" प्रशंसा "तह" तथा "कुलिंगीसु" कुलिङ्गियों का "संथवो" परिचय; [इन] "सम्मत्तस्स" सम्यक्त्व-सम्बन्धी "अइआरे" अतिचारों से "देसिअं" दैवसिक जो पाप लगा] "सव्वं" उस सब से "पडिक्कमे" निवृत्त होता हूँ ।६।

भावार्थ— सम्यक्त्व में मलिनता करने वाले पाँच अतिचार है जो त्यागने योग्य हैं, उनकी इस गाथा में आलोचना हैं । वे अतिचार इस प्रकार हैं ॥ ६ ॥

(१) वीतराग के वचन पर निर्मूल शङ्का करना शङ्कातिचार†, (२) अहितकारी मत को चाहना काङ्क्षातिचार, (३) धर्म का फल मिलेगा या नहीं ऐसा सन्देह करना या निस्पृह त्यागी महात्माओं के मलिन वस्त्र पात्र आदि को देख उन पर घृणा करना विचिकित्सातिचार, (४) मिथ्यात्वियों की प्रशंसा करना जिससे कि मिथ्याभाव की पुष्टि हो कुलिङ्गि-प्रशंसातिचार, और (५) बनावटी भेस पहन कर धर्म के बहाने लोगों को धोखा देने वाले पाखण्डियों का परिचय करना कुलिङ्गसस्तवातिचार ॥ ६ ॥

सूत्र में भी सूत्र बद्ध हैं । इनमें से सिर्फ आवश्यक के ही पाठ, जानने के लिये, यहाँ यथास्थान लिख दिये जाते हैं:—

सम्मत्तस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा—संका कंखा वितिगिच्छा परपासडप-संसा परपासंडसंथवे । [आवश्यक सूत्र, पत्र ८११]

† शङ्का आदि से तत्त्व रुचि चलित हो जाती है, इसलिये वे सम्यक्त्व के अतिचार कहे जाते हैं ।

[आरम्भ जन्य दोषों की आलोचना]

*** छक्कायसमारंभे, पयणे अ पयावणे अ जे दोसा।**
अत्तट्ठा य परट्ठा, उभयट्ठा चेव तं निंदे ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—'अत्तट्ठा' अपने लिये 'परट्ठा' पर के लिये 'य' और 'उभयट्ठा' दोनों के लिते 'पयणे' पकाने में 'अ' तथा 'पयावणे' पकवाने में 'छक्कायसमारंभे' छह काय के आरम्भ से 'जे' जो 'दोसा' दोष [लगे] 'तं' उनकी 'चेव' अवश्य 'निंदे' निन्दा करता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—अपने लिये या पर के लिये या दोनों के लिये कुछ पकाने, पकवाने में छह काय की विराधना होने से जो दोष लगाते हैं उनकी इस गाथा में आलोचना है ॥ ७ ॥

[सामान्यरूप से बारह व्रत के अतिचारों की आलोचना]

† पंचण्हमणुव्वयाणं, गुणव्वयाणं च तिण्हमइआरे।
सिक्खाणं च चउण्हं, पडिक्कमणे देसिअं सव्वं ॥८॥

अन्वयार्थ—"पंचण्हं" पाँच "अणुव्वयाणं" अणुव्रतों के "तिण्हं" तीन "गुणव्वयाणं" गुणव्रतों के "च" और "चउण्हं" चार "सिक्खाणं" शिक्षाव्रतों के "अइआरे" अतिचारों से (जो कुछ) "देसिअं" दैनिक दूषण लगा "सव्वं" उस सब से "पडिक्कमे" निवृत्त होता हूँ ॥ ८ ॥

---

* षट्कायसमारम्भे, पचने च पाचने च ये दोषाः।
आत्मार्थं च परार्थं, उभयार्थं चैव तन्निन्दामि ॥ ७ ॥

† पञ्चानामणुव्रतानां, गुणव्रतानां च त्रयाणामतिचारान्।
शिक्षाणां च चतुर्णां, प्रतिक्रमामि दैवसिकं सर्वम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार बारह ‡ व्रतों के तथा तप, संलेखना आदि के अतिचारों को सेवन करने से जो दूषण लगता है उसकी इस गाथा में आलोचना की गई है ॥ ८ ॥

[पहले अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना]

❀ पढमे अणुव्वयम्मि, थूलगपाणाइवायविरईओ।
आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥९॥

---

‡ श्रावक के पहले पाँच व्रत महाव्रत की अपेक्षा छोटे होने के कारण 'अणुव्रत' कहे जाते हैं; ये 'देश मूलगुणरूप' हैं। अणुव्रतों के लिये गुणकारक अर्थात् पुष्टिकारक होने के कारण छठे आदि तीन व्रत 'गुणव्रत' कहलाते हैं। और शिक्षा की तरह बार बार सेवन करने योग्य होने के कारण नववें आदि चार व्रत 'शिक्षाव्रत' कहे जाते हैं। गुणव्रत और शिक्षाव्रत 'देश-उत्तरगुणरूप' हैं। पहले आठ व्रत यावत्कथित हैं—अर्थात् जितने काल के लिये ये व्रत लिये जाते हैं उतने काल तक इनका पालन निरन्तर किया जाता है। पिछले चार इत्वरिक हैं—अर्थात् जितने काल के लिये ये व्रत लिये जाँय उतने काल तक उनका पालन निरन्तर नहीं किया जाता, सामायिक और देशावकाशिक ये दो प्रतिदिन लिये जाते हैं और पौषध तथा अतिथि-संविभाग ये दो व्रत अष्टमी चतुर्दशी पर्व आदि विशेष दिनों में लिये जाते हैं। [आवश्यक सूत्र पृष्ठ ८३८]

❀ प्रथमेऽणुव्रते, स्थूलकप्राणातिपातविरतितः।
आचरितमप्रशस्तेऽत्र प्रमादप्रसंगेन ॥ ९ ॥

वह बंध छविच्छेए, अइभारे भत्तपाणवुच्छेए ।
+ पढमवयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥१०॥†

अन्वयार्थ—'इत्थ' इस 'थूळग' स्थूल 'पाणाइवायविरईओ' प्राणातिपात-विरतिरूप "पढमे" पहले "अणुव्वयम्मि" अणुव्रत के विषय में 'पमायप्पसगेण' प्रमाद के प्रसङ्ग से 'अप्पसत्थे' अप्रशस्त 'आयरिअं' आचरण किया हो, [जैसे] 'वह' वध ताड़ना, "बंध" बन्धन, "छविच्छेए" अङ्गच्छेद "अइभारे" बहुत बोझा लादना "भत्तपाणवुच्छेए" खाने पीने में रुकावट डालना, [इन] 'पढमवयस्स' पहले व्रत के 'अइआरे' अतिचारों के कारण जो कुछ 'देसिअं' दिन में [दूषण लगा हो उस] 'सव्वं' सबसे 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूं ॥ ९ ॥ १० ॥

वधो बन्धश्छविच्छेद, अतिभारो भक्तपानव्यवच्छेदः ।
प्रथमव्रतस्यातिचारान्, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥१०॥

+पहले व्रत में यद्यपि शब्दतः प्राणों के अतिपात—विनाश का ही प्रत्याख्यान किया जाता है, तथापि विनाश के कारणभूत वध आदि क्रियाओं का त्याग भी उस व्रत में गर्भित है। वध, बन्ध आदि करने से प्राणी को केवल कष्ट पहुँचता है, प्राण नाश नहीं होता। इसलिये बाह्य दृष्टि से देखने पर उसमें हिंसा नहीं है, पर कषाय पूर्वक निर्दय व्यवहार किये जाने के कारण अन्त दृष्टि से देखने पर उसमें हिंसा का अंश है। इस प्रकार वध, बन्ध आदि से प्रथम व्रत का मात्र देशतः भंग होता है। इस कारण वध, बन्ध आदि से पहले व्रत के अतिचार हैं [पञ्चाशक टीका, पृष्ठ १०]

† थूलगपाणाइवायवेरमणस्स समणोवासगाण इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तंजहा—वधे वहे छविच्छेए अइभारे भत्तपाणवुच्छेए। (आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८१८)

भावार्थ—जीव सूक्ष्म और स्थूल दो प्रकार के हैं। उन सब की हिंसा से गृहस्थ श्रावक निवृत्त नहीं हो सकता। उसको अपने धन्धे में सूक्ष्म (स्थावर) जीवों की हिंसा लग ही जाती है; इसलिये वह स्थूल (त्रस) जीवों का पच्चक्खाण करता है। त्रस में भी जो अपराधी हों, जैसे चोर, हत्यारे आदि उनकी हिंसा का पच्चक्खाण गृहस्थ नहीं कर सकता है; इस कारण वह निरपराध त्रस जीवों की ही हिंसा का पच्चक्खाण करता है। निरपराध त्रस जीवों की हिंसा भी सङ्कल्प और आरम्भ दो तरह से होती है। इसमें आरम्भ जन्य हिंसा, जो खेती व्यापार आदि धन्धे में हो जाती है उससे गृहस्थ बच नहीं सकता, इस कारण वह सङ्कल्प हिंसा का ही अर्थात् हड्डी, दाँत, चमड़े या मांस के लिये अमुक प्राणी को मारना चाहिये ऐसे इरादे से हिंसा करने का पच्चक्खाण करता है। सङ्कल्प-पूर्वक की जाने वाली हिंसा भी सापेक्ष निरपेक्षरूप से दो तरह की है। गृहस्थ को बैल, घोड़े आदि को चलाते समय या लड़के आदि को पढ़ाते समय कुछ हिंसा लग ही जाती है जो सापेक्ष है; इसलिये वह निरपेक्ष अर्थात जिसकी कोई भी जरूरत नहीं है ऐसी निरर्थक हिंसा का ही पच्चक्खाण करता है। यही स्थूल प्राणातिपात विरमणरूप प्रथम अणुव्रत है।

इस व्रत में जो क्रियाएँ अतिचाररूप होने से त्यागने योग्य हैं उनकी इन दो गाथाओं में आलोचना है। वे अतिचार ये हैं:—

(१) मनुष्य, पशु पक्षी आदि प्राणियों को चाबुक, लकड़ी आदि से पीटना, (२) उनको रस्सी आदि से बाँधना, (३) उन के नाक, कान आदि अङ्गों को छेदना, (४) उन पर परिमाण से

[तीसरे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना]

* तइए अणुव्वयम्मि, थूलगपरदव्वहरणविरईओ।
आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥ १३ ॥
तेनाहडप्पओगे, तप्पडिरूवे विरुद्धगमणे अ।
कूडतुलकूडमाणे, पडिक्कमे देसिअ सव्वं ॥ १४ ॥†

अन्वयार्थ—'थूलगपरदव्वहरणविरईओ' स्थूल पर-द्रव्य हरण विरति रूप 'इत्थ' इस 'तइए' तीसरे 'अणुव्वयम्मि' अणुव्रत के विषय में 'पमायप्पसंगेणं' प्रमाद के वश होकर 'अप्पसत्थे' अप्रशस्त 'आयरिअं' आचरण किया, [जैसे] 'तेनाहडप्पओगे' चोर की लाई हुई वस्तु का प्रयोग करना—उसे खरीदना, 'तप्पडिरूवे' असली वस्तु दिखा कर नकली देना 'विरुद्धगमणे' राज्य-विरुद्ध प्रवृत्ति करना, 'कूडतुल' झूठी तराजू रखना, 'अ' और 'कूडमाणे' छोटा बड़ा नाप रखना, इससे लगे हुए 'सव्वं' सब 'देसिअं' दिवस-सम्बन्धि दोष से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥ १३ ॥ १४ ॥

---

* तृतीयेऽणुव्रते, स्थूलकपरद्रव्यहरणविरतित।
आचरितमप्रशस्ते, ऽत्र प्रमादप्रसङ्गेन ॥ १३ ॥
स्तेनाहृतप्रयोगे, तत्प्रतिरूपे विरुद्धगमने च।
कूटतुलाकूटमाने प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥ १४ ॥

† थूलादत्तादाणवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच०, तं जहा—तेनाहडे तक्करप्पओगे विरुद्धरज्जाइक्कमणे कूडतुलकूडमाणे तप्पडिरूवगववहारे। [आवश्यक सूत्र पृष्ठ ८२२]

भावार्थ—सूक्ष्म और स्थूलरूप से अदत्तादान दो प्रकार का है। मालिक की संमति के बिना भी जिन चीजों को लेने पर लेने वाला चोर नहीं समझा जाता, ऐसी ढेला, तृण आदि मामूली चीजों को, उनके स्वामी की अनुज्ञा के लिये बिना, लेना, सूक्ष्म अदत्तादान है। इसका त्याग गृहस्थ के लिये कठिन है। इसलिये वह स्थूल अदत्तादान का अर्थात् जिन्हें मालिक की आज्ञा के बिना लेने वाला चोर कहलाता है ऐसे पदार्थों को उनके मालिक की आज्ञा के बिना लेने का त्याग करता है; यह तीसरा अणुव्रत है। इस व्रत में जो अतिचार लगते हैं उनके दोषों की इन दो गाथाओं में आलोचना है। वे अतिचार ये हैं:—

[१] चोरी का माल खरीद कर चोर को सहायता पहुंचाना, [२] बढ़िया नमूना दिखा कर उसके बदले घटिया चीज देना या मिलावट करके देना, [३] चुंगी आदि महसूल बिना दिये किसी चीज को छिपा कर लाना, ले जाना या मनाही किये जाने पर भी दूसरे देश में जाकर राज्य विरुद्ध हलचल करना, [४] तराजू, बाँट आदि सही सही न रख कर उनसे कम देना, ज्यादा लेना, [५] छोटे बड़े नाप रखकर न्यूनाधिक लेना देना ॥ १३ ॥ १४ ॥

(चौथे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना)

* चउत्थे अणुव्वयम्मि, निच्चं परदारगमणविरईओ।

---

* चतुर्थेऽणुव्रते, नित्यं परदारगमनविरतितः।
आचरितमप्रशस्तेऽत्र प्रमादप्रसंगेन ॥ १५ ॥
अपरिगृहीतेत्वरानंगविवाहतीव्रानुरागे।
चतुर्थव्रतस्यातिचारान्, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥१६॥

आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥ १५ ॥
अपरिग्गहिआ इत्तर, अणगवीवाहतिव्वअणुरागे ।
चउत्थवयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ १६ ॥†

अन्वयार्थ—"परदारगमणविरईओ" *परस्त्री गमन विरति रूप "इत्थ" इस "चउत्थे" चौथे 'अणुव्वयम्मि' अणुव्रत के विषय में "पमायप्पसगेण" प्रमाद वश होकर 'निच्च निरय अप्प सत्थे' अप्रशस्त 'आयरिअ' आचरण किया । जैसे — अपरिग्ग हिआ' नहीं व्याही हुई स्त्री के साथ सम्बन्ध, "इत्तर" किसी की थोडे वख्त तक रक्खी हुई स्त्री के साथ सम्बन्ध, "अणग" काम-क्रीडा "वीवाह" विवाह सम्बन्ध, 'तिव्वअणुरागे' काम भोग की प्रबल अभिलाषा, [इन] "चउत्थवयस्स" चौथे व्रत के अइआरे अतिचारों से [लगे हुए] 'देसिअ" दिवस सम्बन्धी 'सव्व' सब दूषण से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हू ॥ १५ ॥ १६ ॥

भावार्थ—मैथुन के सूक्ष्म और स्थूल ऐसे दो भेद हैं। इन्द्रियों का जो अल्प विकार है वह सूक्ष्म मैथुन है और मन, वचन तथा शरीर से काम भोग का सेवन करना स्थूल मैथुन है। गृहस्थ के लिये स्थूल मैथुन के त्याग का अर्थात् सिर्फ अपनी स्त्री

---

† सदारसंतोसस्स समणोवासएणं इमे पच०, तं जहा—अप रिग्गहिआगमणे, इत्तरियपरिग्गहियागमणे, अणंगकीडा, पर-वीवाहकरणे, कामभोगतिव्वाभिलासे । [आवश्यक सूत्र पत्र ८२३]

* यह सूत्रार्थ पुरुष को लक्ष्य में रख कर है । स्त्रियों के लिये इससे उलटा समझना चाहिये । जैसे,—पर पुरुष गमन विरति-रूप आदि ।

में संतोष रखने का या दूसरे की व्याही हुई अथवा रक्खी हुई ऐसी परस्त्रियों को त्यागने का विधान है। यही चौथा अणुव्रत है। इस व्रत में लगने वाले अतिचारों की इन दो गाथाओं में आलोचना है। वे + अतिचार ये हैं:—

(१) क्वाँरी कन्या या वेश्या के साथ सम्बन्ध जोड़ना, (२) जिसको थोड़े वख्त के लिये किसी ने रक्खा हो ऐसी वेश्या के साथ रमण करना, (३) सृष्टि के नियम-विरुद्ध काम-क्रीड़ा करना, (४) अपने पुत्र-पुत्री के सिवाय दूसरों का विवाह करना, कराना और (५) काम-भोग की प्रबल अभिलाषा करना॥ १५॥ १६॥

+ चतुर्थ व्रत के धारण करने वाले पुरुष तीन प्रकार के होते हैं;—(१) सर्वथा ब्रह्मचारी, (२) स्वदार-संतोषी, (३) परदार त्यागी। पहले प्रकार के ब्रह्मचारी के लिये तो अपरिगृहीता-सेवन आदि उक्त पाँचों अतिचार हैं; परन्तु दूसरे तीसरे प्रकार के ब्रह्मचारी के विषय में मतभेद है। श्रीहरिभद्रसूरिजी ने आवश्यक सूत्र की टीका में चूर्णि के आधार पर यह लिखा है कि स्वदारसंतोषी को पाँचों अतिचार लगते हैं, किन्तु परदारत्यागी को पिछले तीन ही, पहले दो नहीं [आवश्यक टीका, पत्र ८२५]। दूसरा मत यह है कि स्वदारसंतोषी को पहला छोड़कर शेष चार अतिचार। तीसरा मत यह है कि परदारत्यागी को पाँच अतिचार लगते हैं, पर स्वदार-संतोषी को पिछले तीन अतिचार, पहले दो नहीं। [पञ्चाशक टीका, पृष्ठ १४-१५]। स्त्री के लिये पाँचों अतिचार बिना मत-भेद के माने गये हैं। [पञ्चाशक टीका, पृष्ठ १५]।

[पाँचवें अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना]

❀ इत्तो अणुव्वए पं,—चमम्मि आयरिअमप्पसत्थम्मि।
परिमाणपरिच्छेए, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥ १७ ॥
धण-धन्न-खित्त वत्थू-, रूप्प सुवन्ने अ कुविअपरिमाणे।
दुपए चउप्पयम्मि य, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ १८॥ †

अन्वयार्थ—'इत्तो' इसके बाद 'इत्थ' इस 'परिमाण परिच्छेए' परिमाण करने रूप 'पञ्चमम्मि' पाँचवें 'अणुव्वए' अणुव्रत के विषय में 'पमायप्पसंगेणं' प्रमाद के वश होकर 'अप्प सत्थम्मि' अप्रशस्त 'आयरिअं' आचरण हुआ, जैसे,—'धण' धन, 'धन्न' धान्य –अनाज 'खित्त' खेत, 'वत्थू' घर दूकान आदि, 'रूप्प' चाँदी, 'सुवन्ने' सोना 'कुविअ' कुप्य—ताँबा आदि धातुएँ, 'दुपए' दो पैर वाले—दास,दासी,नौकर, चाकर आदि 'चउप्पयम्मि' गाय, भैंस आदि चौपाये, इन सब के] 'परिमाणे' परिमाण के विषय में 'देसिअ' दिवस सम्बन्धी लगे हुये 'सव्व' सब दूषण से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥ १७ ॥ १८ ॥

❀ इतोऽणुव्रते पञ्चमे, आचरितमप्रशस्ते।
परिमाणपरिच्छेदे,-ऽत्र प्रमादप्रसङ्गेन ॥ १७ ॥
धन धान्य क्षेत्र वास्तु रूप्य सुवर्णे च कुप्यपरिमाणे।
द्विपदे चतुष्पदे च, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥ १८ ॥

† इच्छापरिमाणस्स समणोवासएणं इमे पंच० धणधन्नपमाणाइक्कमे खित्तवत्थुपमाणाइक्कमे हिरन्नसुवन्नपमाणाइक्कमे। दुपय चउप्पयपमाणाइक्कमे कुवियपमाणाइक्कमे।

[आवश्यक सूत्र, पत्र ८२५]

भावार्थ—परिग्रह का सर्वथा त्याग करना अर्थात् किसी चीज पर थोड़ी भी मूर्छा न रखना, यह इच्छा का पूर्ण निरोध है, जो गृहस्थ के लिये असंभव है। इसलिये गृहस्थ, संग्रह की इच्छा का परिमाण कर लेता है कि मैं अमुक चीज इतने परिमाण में ही रक्खूँगा, इससे अधिक नहीं; यह पाँचवां अणुव्रत है। इसके अतिचारों की इन दो गाथाओं में आलोचना की गई है। वे अतिचार ये हैं:—

(१) जितना धन, धान्य रखने का नियम किया हो उससे अधिक रखना, (२) जितने घर खेत रखने की प्रतिज्ञा की हो उससे ज्यादः रखना (३) जितने परिमाण में सोना-चाँदी रखने का नियम किया हो उससे अधिक रख कर नियम का उल्लङ्घन करना, (४) तांबा आदि धातुओं को तथा शयन, आसन आदि को जितने परिमाण में रखने का प्रण किया हो उससे ज्यादः रखना, और (५) द्विपद-चतुष्पद को नियमित परिमाण से अधिक संग्रह करके नियम का अतिक्रमण† करना ॥१७॥१८॥

---

† नियत किये हुए परिमाण का साक्षात् अतिक्रमण करना अतिचार नहीं, किन्तु भंग है। अतिचार का मतलब इस प्रकार है :—

मंजूर करने से धन-धान्यपरिमाणातिचार लगता है। जैसे स्वीकृत परिमाण के उपरान्त धन धान्य का लाभ देख कर किसी से यह कहना कि तुम इतना अपने पास रखो। मैं पीछे से—जब कि व्रत की कालावधि पूर्ण हो जायगी— उसे ले लूँगा अथवा उस अधिक धन-धान्य को बाँध कर किसी के पास इस बुद्धि से रख देना कि पास की चीज कम होने पर ले

लिया जायगा, अभी लेने में व्रत का भंग होगा, यह धन धान्य परिमाणातिचार है।

मिला देने से क्षेत्र-वास्तुपरिमाणातिचार लगता है। जैसे स्वीकृत संख्या के उपरान्त खेत या घर की प्राप्ति होने पर व्रत भंग न हो इस बुद्धि से पहले के खेत की बाड़ तोड़ कर उसमें नया खेत मिला देना और संख्या कायम रखना अथवा पहले के घर की भित्ती गिरा कर उसमें नया घर मिला कर घर की संख्या कायम रखना, यह क्षेत्र-वास्तुपरिमाणातिचार है।

सौंपने से सुवर्ण-रजतपरिमाणातिचार लगता है। जैसे कुछ कालावधि के लिये सोना-चाँदी के परिमाण का अभिग्रह लेने के बाद बीच में अधिक प्राप्ति होने पर किसी को यह कह कर अधिक भाग सौंप देना कि मैं इसे इतने समय के बाद ले लूँगा, अभी मुझे अभिग्रह है, यह सुवर्ण-रजतपरिमाणातिचार है।

नई घड़ाई कराने से कुप्यपरिमाणातिचार लगता है। जैसे स्वीकृत संख्या के उपरान्त ताँबा, पीतल आदि का बरतन मिलने पर उसे लेने से व्रत-भंग होगा इस भय से दो बरतनों को भँगा कर एक बनवा लेना और संख्या को कायम रखना, यह कुप्यपरिमाणातिचार है।

गर्भ के सम्बन्ध से द्विपद चतुष्पदपरिमाणातिचार लगता है। जैसे स्वीकृत कालावधि के भीतर प्रसव होने से संख्या बढ़ जायगी और व्रत भंग होगा इस भय से द्विपद या चतुष्पदों को कुछ देर से गर्भ ग्रहण कराना जिससे कि व्रत की कालावधि में प्रसव होकर संख्या बढने न पावे और कालावधि के बाद प्रसव होने से फायदा भी हाथ से न जाने पावे, यह द्विपद चतुष्पद परिमाणातिचार है। [धर्मसंग्रह, श्लोक ४८]

[छठे व्रत के अतिचारों की आलोचना]

*** गमणस्स उ परिमाणे, दिसासु उड्ढं अहे अ तिरिअं च।**

वुड्ढि सइअंतरद्धा, पढमम्मि गुणव्वए निंदे १६ ‡

अन्वयार्थ—'उड्ढं' ऊर्ध्व 'अहे' अधो 'अ' और 'तिरिअं च' तिरछी [इन] 'दिसासु' दिशाओं में 'गमणस्स उ' गमन करने के "परिमाणे" परिमाण की "वुड्ढि" वृद्धि करना और 'सइअन्तरद्धा" स्मृति का लोप होना (ये अतिचाररूप हैं), "पढमम्मि" पहले "गुणव्वए" गुण-व्रत में (इनकी मैं) "निंदे" निन्दा करता हूँ॥ १६॥

भावार्थ—साधु संयम वाले होते हैं। ये जङ्घाचारण, विद्याचारण आदि की तरह कहीं भी जावें उनके लिये सब जगह समान है। पर गृहस्थ की बात दूसरी है, वह अपनी लोभ-वृत्ति को मर्यादित करने के लिये उर्ध्व दिशा में अर्थात् पर्वत आदि पर, अधो-दिशा में अर्थात् खानि आदि में और तिरछो-दिशा में अर्थात् पूर्व, पश्चिम आदि चार दिशाओं तथा

---

* गमनस्य तु परिमाणे, दिक्षूर्ध्वमधश्च तिर्यक् च।
वृद्धिः स्मृत्यन्तर्धा, प्रथमे गुणव्रते निन्दामि॥ १६॥

‡ दिसिवयस्स समणोवासएणं इमे पंच०, तंजहा—उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे अहोदिसिपमाणाइक्कमे तिरिअदिसिपमाणाइक्कमे खित्तवुड्ढी सइअंतरद्धा। [आवश्यक सूत्र, पत्र ८२७

ईशान, अग्नि आदि चार विदिशाओं में जाने का परिमाण नियत कर लेता है कि मैं अमुक दिशा में इतने योजन तक गमन करूँगा, इससे अधिक नहीं। यह दिक्परिमाण रूप प्रथम गुण-व्रत अर्थात् छठाँ व्रत है। इसमें लगने वाले अतिचारों की इस गाथा में आलोचना है। वे अतिचार इस प्रकार हैं:—

(१) ऊर्ध्व दिशा में जितनी दूर तक जाने का नियम किया हो उससे आगे जाना, (२) अधो-दिशा में जितनी दूर जाने का नियम हो उससे आगे जाना, (३) तिरछी दिशा में जाने के लिये जितना क्षेत्र निश्चित किया हो उससे दूर जाना, (४) एक तरफ के नियमित क्षेत्रप्रमाण को घटा कर दूसरी तरफ उतना बढा लेना और वहाँ तक चले जाना, जैसे पूर्व और पश्चिम में सौ सौ कोस से दूर न जाने का नियम करके आवश्यकता पड़ने पर पूर्व में नब्बे कोस की मर्यादा रखकर पश्चिम में एक सौ दस कोस तक चले जाना और (५) प्रत्येक दिशा में जाने के लिये जितना परिमाण निश्चित किया हो उसे भुला देना ॥ १६ ॥

[सातवें व्रत के अतिचारों की आलोचना]

* मज्जम्मि अ मंसम्मि अ, पुप्फे अ फले अ गंध-मल्ले अ ।

---

*मद्ये च मांसे च, पुष्पे च फले च गन्धमाल्ये च ।
उपभोगपरिभोगयोर्द्वितीये गुण व्रते निन्दामि ॥ २० ॥
सचित्ते प्रतिबद्धेऽपक्व दुष्पक्वं चाहारे ।
तुच्छौषधिभक्षणता, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥ २१ ॥
अङ्गारवनशकटभाटकस्फोट सुवर्जयेत् कर्म ।

उवभोगपरीभोगे, बीयम्मि गुणव्वए निंदे ॥ २० ॥
सच्चित्ते पडिबद्धे, अपोलि दुप्पोलिअं च आहारे ।
तुच्छोसहिभक्खणया, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥२१॥ ‡
इंगालीवणसाडी,–भाडीफोडी सुवज्जए कम्मं ।
वाणिज्जं चेव य दं,–तलक्खरसकेसविसविसयं ॥२२॥
एवं खु जंतपिल्लण,–कम्मं निल्लंछणं च दवदाणं ।
सरदहतलायसोसं, असईपोसं च वज्जिज्जा ॥२३॥ †

अन्वयार्थ—'बीयम्मि' दूसरे 'गुणव्वए' गुणव्रत में

वाणिज्यं चैव च दन्तलाक्षारसकेशविषविषयम् ॥ २२ ॥
एवं खलु यन्त्रपीळनकर्म निर्लाञ्छनं च दवदानम् ।
सरोहृदतडागशोषं, असतीपोषं च वर्जयेत् ॥ २३ ॥

‡ भोअणओ समणोवासएणं इमे पंच०, तंजहा—सचित्ताहारे सचित्तपडिबद्धाहारे अप्पउलिओसहिभक्खणया तुच्छोसहिभक्खणया दुप्पउलिओसहिभक्खणया । [आव० सूत्र, पत्र ८२८]

† कम्मओ णं समणोवासएणं इमाइं पन्नरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं, तंजहा—इंगालकम्मे, वणकम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे, फोडीकम्मे । दन्तवाणिज्जे लक्खवाणिज्जे, रसवाणिज्जे, केसवाणिज्जे, विसवाणिज्जे । जंतपीलणकम्मे, निल्लंछणकम्मे, दवग्गिदावणया, सरदहतलायसोसणया, असईपोसणया [आव० सू० पत्र ८२९]

'मज्जम्मि' मद्य—शराब 'मसम्मि' मास 'पुप्फे' फूल 'फले' फल 'अ' और 'गंधमल्ले' सुगन्धित द्रव्य तथा पुष्पमालाओं के 'उवभोगपरिभोगे' उपभोग तथा परिभोग की 'निन्दे' निन्दा करता हूँ॥ २०॥

'सच्चित्ते' सचित्त वस्तु के पडिबद्धे सचित्त से मिली हुई वस्तु के 'अपोल' नहीं पकी हुई वस्तु के 'च' और 'दुप्पोलिअ' दुष्पक्व—आधी पकी हुई—वस्तु के "आहारे" खाने से [तथा] "तुच्छोसहिभक्खणया" तुच्छ वनस्पति के खाने से जो 'देसिअ" दिन में दूषण लगा "सव्व" उस सब से "पडिक्कमे" निवृत्त होता हूं॥ २१॥

"इगाली" अङ्गार कर्म "वण" वन कर्म "साडी" शकट-कर्म "भाडी" भाटक कर्म "फोडी" स्फोटक-कर्म [इन पाँचों] "कम्म" कर्म को "चेव" तथा "दन्त" दांत "लक्ख" लाख "रस" रस "केस" बाल "य" और "विसविसय" जहर के "वाणिज्ज" व्यापार को [श्रावक] "सुवज्जए" छोड़ देवे॥ २२॥

"एवं" इस प्रकार 'जतपिल्लणकम्म' यन्त्र से पीसने का काम 'निल्लछण' अङ्गों को छेदने का काम 'दवदाणं' आग लगाना, 'सरदह तलायसोस' सरोवर, झील तथा तालाब को सुखाने का काम 'च' और "असईपोस" असती पोषण (इन सब को सुश्रावक) "सु" अवश्य "वज्जिज्जा" त्याग देवे॥ २३॥

भावार्थ—सातवाँ व्रत भोजन और कर्म दो तरह से होता है। भोजन में जो मद्य, मास आदि बिल्कुल त्यागने योग्य हैं उनका त्याग करके बाकी में से अन्न, जल आदि एक ही बार उपयोग में आने वाली वस्तुओं का तथा वस्त्र, पात्र आदि बार बार